प्रकाशकः—
ओरिएण्टल बुक डिपो
नई सड़क, दिल्ली

मूल्य ३)

मुद्रक
विश्व भारती प्रेस
पहाड़गंज, नई दिल्ली

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
भूमिका	क से ठ
भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास	३
रस-सम्प्रदाय	२७
अलकार-सम्प्रदाय	७५
रीति-सम्प्रदाय	९१
ध्वनि-सम्प्रदाय	९९
वक्रोक्ति-सम्प्रदाय	१२९

भूमिका

नियतिकृतनियमरहिता ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।

नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥ मम्मटाचार्य ॥

"यदि मुझे निखिल विश्व में से एक ऐसा देश, जिसे प्रकृतिदेवी ने अपने अमित वैभव, शक्ति और सौन्दर्य से विभूषित किया है, भू पर स्वर्गोपम रचा है, ढूँढना पड़े तो मैं भारत की ओर संकेत करूँगा। यदि मुझसे पूछा जाय कि वह कौनसा आकाश-खण्ड है जिसके नीचे मानवीय प्रतिभा ने अपने सर्वोत्तम वरदानों का सर्वश्रेष्ठ उपयोग किया है, जीवन के शाश्वत एवं गूढ़तम प्रश्नों की तह में पहुँचने का सफल प्रयास किया है और उनमें से कइयों का प्रामाणिक समाधान, जो कि प्लेटो और काण्ट के अध्येताओं तक का ध्यान आकृष्ट कर सके, प्रस्तुत किया है—तो मैं भारत की ओर संकेत करूँगा। और यदि मैं स्वयं ही अपने से प्रश्न करूँ कि हम योरुपवासी, जो कि लगभग समग्रतः ग्रीक, रोमन और एक सेमेटिक यहूदी जाति की विचार-धाराओं पर पालित-पोषित हुए हैं, कौन से 'साहित्य' से उस अनिवार्यरूपेण वाञ्छित स्फूर्ति को प्राप्त कर सकते हैं जो हमारे आन्तरिक जीवन को अधिक पूर्ण, व्यापक, विश्वजनीन और वस्तुतः—न केवल इस जीवन को अपितु परवर्ती शाश्वत जीवन को भी—अधिक मानवीय बना दे—तो मैं पुनरपि भारत का ही निर्देश करूँगा।"—मैक्समूलर।

ये उद्गार पौरस्त्य विद्याओं एवं साहित्य के विख्यात मर्मज्ञ, पाश्चात्य विद्वान् श्री मैक्समूलर के हैं। किसी भी देश और उसके दार्शनिक मीमांसा-शास्त्र और साहित्य के विषय में इससे अधिक

गौरवपूर्ण शब्दावली का प्रयोग सम्भवत आज तक किसी प्रामाणिक आलोचक द्वारा नही किया गया । उक्त सक्षिप्त सम्मति का महत्त्व इस कारण कही बढ गया है कि यह एक ऐसे विदेशी विद्वान् के दीर्घकालीन अध्ययन का निष्कर्ष है, जिसने अपने जीवन का अधिकाश समय ससार के साहित्यमहोदधि का तुलनात्मक अवगाहन करने में व्यतीत किया है । आज का स्वतन्त्र भारत इसी साहित्य का एकमात्र उत्तराधिकारी है ।

सस्कृत-साहित्य ससार के प्राचीनतम साहित्य-सग्रहो में से अन्यतम है । इसके विषय में अब तक, निश्चित रूप से, यह नही कहा जा सकता कि इसमें कितनी सहस्राब्दियो के मनीषियो की चिन्तन-साधना का 'सत्' सञ्चित है । इस अक्षय ज्ञाननिधि की, जैसा कि मैक्समूलर के उद्गारो से स्पष्ट है, आवश्यकता केवल भारत-सन्तान के लिए ही नही, अपितु विश्व के 'मानव' को 'मानवीय' बनाने के लिए भी है । तो एक राष्ट्रीय प्रश्न हमारे सामने आता है—क्या स्वतन्त्र भारत इस दुष्प्राप्य महानिधि को सुरक्षित रख सकेगा ?

आज के मानव का अग्रणी, वह मानव ! और उसकी नवेली सहचरी पाश्चात्य सभ्यता !! कौन नही जानता कि पाश्चात्य सभ्यता का लाडला यह मानव आज अपने वैभव के सर्वोच्च शिखर पर आसीन है ? महायन्त्र-प्रवर्तन की अपार क्षमता और आणविक शस्त्रास्त्रो की कल्पनातीत शक्तिमत्ता के अनुपम वरदानो ने उसके मन मे 'प्रकृति-प्रिया' के हठात् वरण की अदम्य आकाक्षा उद्दीप्त कर दी है । ऐसा प्रतीत होता है कि इस वृद्ध विश्व की चिर अभिलाषा की तृप्ति का वह स्वयवर-समारोह, जिसमें हठीली प्रकृति को 'मानव' के गले में विजयमाला डालनी पड़ेगी, सर्वथा निकट आ गया है । ऐश्वर्यों का स्वामी 'मानव' राजसूय यज्ञ की पूर्णाहुति सम्पन्न कर 'शतक्रतु' की पदवी पाने को है, और यह विजय-वैजयन्ती पुष्प-सम्पुटियो को नभ से बिखेरती हुई फहराना

ही चाहती है। · · 'परन्तु अरे ! इस शुभ घडी में यह शका कैसी ? क्या कहा—'अधूरा मानव !' हाँ, ग्रीक, रोमन और एक सेमेटिक जाति यहूदी के सम्पूर्ण साहित्य की 'मिश्रित खुराक' पर पोषित होकर भी यह मानव अधूरा ही है। सम्भव है, लक्ष्यभ्रष्ट होकर वह मानवता का ही महार कर बैठे। तब यह स्वयवर-समारोह विश्व-श्मशान के रूप में परिणत हो जायेगा।

तब मानवता की रक्षार्थ भावनाओ के परिष्कार का आयोजन आवश्यक है। विश्व-शान्ति का आधार पारस्परिक सद्भावनाएँ ही हो सकती है। कलात्मक साहित्य, समन्वय-प्रधान दर्शन और 'सर्वभूतहितेरत' वाली आध्यात्मिक विचारधारा भावनाओ को उदात्त बनाने में अमोघ मानी जा सकती है। यदि शुष्क एव बुद्धिमूलक विज्ञान के अध्ययन ने आज के मानव को हृदयहीन बना दिया है तो कलात्मक साहित्य अपनी मोहक माधुरी से उसमें सच्ची सहृदयता की चेतना फूंक सकता है। यह कहना अतिचार न होगा कि सस्कृत-साहित्य में मानवीय भावनाओ के परिष्करण की अनुपम क्षमता है। विश्व के दूसरे महान् सत्साहित्यो के समानान्तर सस्कृत-साहित्य मानवीयता के प्रसार में महत्त्वपूर्ण योग दे सकता है, इसमें सन्देह नही।

विश्व और मानवता के लिए सस्कृत का पुरातन साहित्य बडा उपयोगी है, यह माना जा सकता है। परन्तु नवोदित भारतीय राष्ट्र के लिए इसकी क्या महत्ता है ? यह प्रश्न भी गम्भीरता से विचारणीय है।

सस्कृति भूतकाल की प्रगति का जातीय प्रवाह है, जिसका 'प्रवेग' जाति को भविष्य के पथ पर अग्रसर करता है। इस प्रवाह में वह सभी कुछ शामिल रहता है, जो भूत में जाति के मार्ग में आ उपस्थित होता आया है। और उस 'समग्र' का प्रत्येक अश प्रवाह के 'प्रवेग' से शक्ति

प्राप्त कर उसी प्रवाह को इस प्रकार से 'प्रवेग' प्रदान करता है, जिससे जातीय आचार-विचार की धारा एक सुनिश्चित दिशा में प्रगतिशील हो उठती है। इस प्रकार संस्कृति का मूल तत्त्व प्रवेग या "प्रगति के लिए सुनिश्चित आतुरता" है। यह आतुरता 'प्रवाह' की संसक्ति अथवा एकता पर निर्भर है। यदि जातीय प्रवाह में संसक्ति (एकनिष्ठता) न रहे तो जाति छिन्न-भिन्न हो बिखर जाती है। फलत सामूहिक जीवन का विकास अवरुद्ध हो जाता है। इसीलिए जातीय उत्थान और प्रगति के लिए संस्कृति की आवश्यकता होती है।

भारतीय राष्ट्र लगभग एक सहस्राब्दिपर्यन्त राजनैतिक अध पतन के महागर्त में निमग्न रहा। इस महागर्त से हमारे राष्ट्र का उद्धार कैसे हुआ ? यह एक सांस्कृतिक एकता की सूक्ष्म शक्ति की विजय की रहस्यमयी कहानी है। भारतीय संस्कृति के प्रवेग में से तिलक, ऋषि दयानन्द, मालवीय, रवीन्द्र और गांधी जैसे महापुरुष सामने आये, जिन्होंने राष्ट्र के जातीय प्रवाह की अतुलित शक्ति को पहिचान लिया और उसे काम में लाये, जिसका फल यह हुआ कि आज भारतीय राष्ट्र उत्तप्त भट्टी में से तपकर निष्पन्न कञ्चन की तरह अवदात होकर नव अरुणोदय के रूप में जगती के रङ्गमञ्च पर सहसा आ खड़ा हुआ है। अब उसे मानवीय संस्कृति के विकास तथा आत्म-अभ्युदय के लिए अपनी कला का प्रदर्शन करना है।

राष्ट्रनायक जवाहरलाल के शब्दों में यदि कहा जाय तो आज दिन भारतीय राष्ट्र को सर्वोपरि जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह है—— 'राष्ट्रीय एकता'। परन्तु यह बात सर्वथा सुविदित है कि राष्ट्रीय एकता का आधार होता है 'सांस्कृतिक एकता'। यही वह वस्तु है, जिसने असमय में भारतीय राष्ट्र की रक्षा की, जो भारतीय राष्ट्र को राष्ट्र बनाती है, और जो भारतीय राष्ट्र को विश्व-सेवाओं में गौरव प्रदान करवा सकती है। परन्तु दुर्भाग्य से हमारी 'सांस्कृतिक एकता' प्रान्तीयता,

पद-लोलुपता, कुनबा-परस्ती और भाषा-विप्लव जैसी महामारियो से आक्रान्त-सी दीख रही है। भौतिक सुखोपभोग और महत्त्वाकाक्षाओं की लिप्सा के कारण भारतवासियो के 'समान-जीवन-दर्शन' के तिरोहित होने का भय उपस्थित हो गया है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था की आधारभूत 'वर्णाश्रम-मर्यादा', जिसने सहस्रो वर्षों तक इस विशाल-मानव-समूह की नीव में रहकर काम किया है, आधुनिक प्रजातन्त्र में पोषण के अभाव में सूखने लगी है। वर्णाश्रम-मर्यादा समाज और व्यक्ति के जीवनो को उचित रूप में मर्यादित कर एक-दूसरे के प्रति समन्वित करती थी। उसका यह कार्य तो समाप्त हो गया, सिर्फ उसके ध्वसावशेष के रूप में बचे जाति-पाँति के बन्धनो के जाल ने समाज को कसकर जकड दिया है। इसके अतिरिक्त सास्कृतिक चेतना और मातृभूमि की उपासना के केन्द्रीभूत 'तीर्थस्थान' भी 'सिटी' रूप में परिणत होते जा रहे है। भौतिक मिथ्याचार ने श्रद्धातत्त्व की सजीवता पर पाबन्दी लगा दी है। भाषा-विप्लव ने तो सास्कृतिक क्षेत्र में कानन-कानून को चरितार्थ कर रखा है। भारतीय इतिहास में वह दिन दुर्भाग्य का ही कहा जा सकता है, जिस दिन सस्कृत-भाषा का राष्ट्रीय गौरव समाप्त किया गया। सास्कृतिक एकता की जड में यह प्रबलतम कुठाराघात था। जब भगवान् बुद्ध ने लोक-बोलियो को मान्यता देकर 'विकार' और 'प्रमाद' के लिए रास्ता साफ कर दिया तो भाषा-विज्ञान के नियमो के अनुसार नित्य-नूतन प्रादुर्भूत होनेवाली बोलियो के दुर्दमनीय प्रवाह ने भारत-भू को एकदम निमज्जित कर दिया। इस विकट परिस्थिति को तीन महापुरुषो ने खूब समझा। इनमें दो सज्जन गुजराती और एक अँग्रेज थे। गुजराती महानुभाव स्वामी दयानन्द और महात्मा गाँधी ने सुधार के उपाय के रूप में सस्कृतनिष्ठ हिन्दी को असन्दिग्ध रूप में राष्ट्रभाषा स्वीकार कर भाषा-विप्लव की समाप्ति की उद्घोषणा की। अँग्रेज महानुभाव थे—मैकाले साहब। इन्होंने भारत में अँग्रेजी भाषा को नई

प्राप्त कर उसी प्रवाह को इस प्रकार से 'प्रवेग' प्रदान करता है, जिससे जातीय आचार-विचार की धारा एक सुनिश्चित दिशा में प्रगतिशील हो उठती है । इस प्रकार संस्कृति का मूल तत्त्व प्रवेग या "प्रगति के लिए सुनिश्चित आतुरता" है । यह आतुरता 'प्रवाह' की संसक्ति अथवा एकता पर निर्भर है । यदि जातीय प्रवाह में संसक्ति (एकनिष्ठता) न रहे तो जाति छिन्न-भिन्न हो बिखर जाती है । फलत सामूहिक जीवन का विकास अवरुद्ध हो जाता है । इसीलिए जातीय उत्थान और प्रगति के लिए संस्कृति की आवश्यकता होती है ।

भारतीय राष्ट्र लगभग एक सहस्राब्दिपर्यन्त राजनैतिक अध पतन के महागर्त में निमग्न रहा । इस महागर्त से हमारे राष्ट्र का उद्धार कैसे हुआ ? यह एक सांस्कृतिक एकता की सूक्ष्म शक्ति की विजय की रहस्यमयी कहानी है । भारतीय संस्कृति के प्रवेग में से तिलक, ऋषि दयानन्द, मालवीय, रवीन्द्र और गांधी जैसे महापुरुष सामने आये, जिन्होंने राष्ट्र के जातीय प्रवाह की अतुलित शक्ति को पहिचान लिया और उसे काम में लाये, जिसका फल यह हुआ कि आज भारतीय राष्ट्र उत्तप्त भट्टी में से तपकर निष्पन्न कञ्चन की तरह अवदात होकर नव अरुणोदय के रूप में जगती के रङ्गमञ्च पर सहसा आ खडा हुआ है । अब उसे मानवीय संस्कृति के विकास तथा आत्म-अभ्युदय के लिए अपनी कला का प्रदर्शन करना है ।

राष्ट्रनायक जवाहरलाल के शब्दो में यदि कहा जाय तो आज दिन भारतीय राष्ट्र को सर्वोपरि जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह है—'राष्ट्रीय एकता' । परन्तु यह बात सर्वथा सुविदित है कि राष्ट्रीय एकता का आधार होता है 'सांस्कृतिक एकता' । यही वह वस्तु है, जिसने असमय में भारतीय राष्ट्र की रक्षा की, जो भारतीय राष्ट्र को राष्ट्र बनाती है, और जो भारतीय राष्ट्र को विश्व-सेवाओ में गौरव प्रदान करवा सकती है । परन्तु दुर्भाग्य से हमारी 'सांस्कृतिक एकता' प्रान्तीयता,

पद-लोलुपता, कुनवा-परस्ती और भाषा-विप्लव जैसी महामारियो से आक्रान्त-सी दीख रही है। भौतिक सुखोपभोग और महत्त्वाकाक्षाओ की लिप्सा के कारण भारतवासियो के 'ममान-जीवन-दर्शन' के तिरोहित होने का भय उपस्थित हो गया है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था की आधारभूत 'वर्णाश्रम-मर्यादा', जिसने सहस्रो वर्षों तक इस विशाल-मानव-समूह की नीव में रहकर काम किया है, आधुनिक प्रजातन्त्र में पोषण के अभाव में सूखने लगी है। वर्णाश्रम-मर्यादा समाज और व्यक्ति के जीवनो को उचित रूप में मर्यादित कर एक-दूमरे के प्रति ममन्वित करती थी। उसका यह कार्य तो समाप्त हो गया, मिर्फ उसके ध्वसावशेष के रूप में बचे जाति-पाँति के बन्धनो के जाल ने समाज को कसकर जकड दिया है। इसके अतिरिक्त सास्कृतिक चेतना और मातृभूमि की उपासना के केन्द्रीभूत 'तीर्थस्थान' भी 'सिटी' रूप में परिणत होते जा रहे हैं। भौतिक मिथ्याचार ने श्रद्धातत्त्व की सजीवता पर पावन्दी लगा दी है। भाषा-विप्लव ने तो सास्कृतिक क्षेत्र में कानन-कानून को चरितार्थ कर रखा है। भारतीय इतिहास में वह दिन दुर्भाग्य का ही कहा जा सकता है, जिस दिन सस्कृत-भाषा का राष्ट्रीय गौरव समाप्त किया गया। सास्कृतिक एकता की जड में यह प्रवलतम कुठाराघात था। जब भगवान् बुद्ध ने लोक-बोलियो को मान्यता देकर 'विकार' और 'प्रमाद' के लिए रास्ता साफ कर दिया तो भाषा-विज्ञान के नियमो के अनुसार नित्य-नूतन प्रादुर्भूत होनेवाली बोलियो के दुर्दमनीय प्रवाह ने भारत-भू को एकदम निमज्जित कर दिया। इस विकट परिस्थिति को तीन महापुरुषो ने खूब समझा। इनमें दो सज्जन गुजराती और एक अँग्रेज थे। गुजराती महानुभाव स्वामी दयानन्द और महात्मा गाँधी ने सुधार के उपाय के रूप में मस्कृतनिष्ठ हिन्दी को असन्दिग्ध रूप में राष्ट्रभाषा स्वीकार कर भाषा-विप्लव की समाप्ति की उद्घोषणा की। अँग्रेज महानुभाव थे—मैकाले साहब। इन्होंने भारत में अँग्रेजी भाषा को नई

बला के रूप में सत्तारूढ कर भाषा की समस्या हल करनी चाही । पर उन्हे सफलता न मिली । कारण स्पष्ट है, मैंकाले साहब की धारणा थी—"भारत और अरेबिया का सम्पूर्ण साहित्य योरुप के किसी पुस्तकालय की अल्मारी के एक खाने की तुलना मुश्किल से कर पायेगा ।" मैंकाले साहब की गलत धारणा के कारण ही ससार की सर्वाधिक विकसित भाषा अँग्रेज़ी, मसार के सर्वाविक विस्तृत साम्राज्य की शक्ति को पीठ पर पाकर भी, भारत में स्थायित्व न पा सकी । अस्तु । इधर ऋषि दयानन्द और महात्मा गाँधी के प्रयत्न के बावजूद भी भाषा-विप्लव की विकराल आँधी पूरी तरह शान्त नही हो पाई है, और आज भी सांस्कृतिक एकता के लिए वह सर्वाधिक भय का कारण है ।

हमारा युक्ति-क्रम यह है कि राष्ट्रीय एकता के लिए सास्कृतिक एकता अनिवार्य है । इसमें अन्य साधारण बाधाओं के अतिरिक्त भाषा-विप्लव की बाधा सबसे उग्र है । यह वह विन्दु है, जहाँ पर चोट करने से सास्कृतिक एकता का सिहासन उलट जाता है । भारतीय भाषा-विप्लव के प्रसग में उर्दू का उत्पात और अँग्रेज़ी का अहकार चिर-स्मरणीय रहेगे । वस्तुतस्तु उर्दू कोई अलग भाषा नही है । उसके वाक्यो का विन्यास और ढाँचा तथा क्रिया-पद सभी हिन्दी-व्याकरण-सम्मत है । उसमें यदि कोई नवीनता है तो केवल अरबी-फारसी के तत्सम शब्दो की । इसका भी कारण है । उक्त देशो से आनेवाले मुस्लिम शासको ने अपने अरबी-फारसी प्रेम को मूर्त रूप देने के लिए हिन्दी में उन भाषाओ के शब्दो की खुली भर्ती का ऐलान कर दिया जिससे हिन्दी बेचारी का हुलिया ही तब्दील हो गया । इसका अर्थ यह हुआ कि अरबी-फारसी की भरमारवाली जो भाषा उर्दू-रूप में हमारे सामने आती है, उसमें उन शब्दो की भर्ती का आग्रह उन शासको की विशिष्ट मनोवृत्ति का परिचायक है । स्पष्ट है कि प्रजातन्त्र क समुन्नत

समय में शासको की तथाकथित विशिष्ट मनोवृत्ति की समाप्ति हो जाती है और उसके साथ उस मनोवृत्ति के अलङ्करण भी निस्तेज व निर्वीर्य होकर स्वत मूर्छित हो जाते हैं। अत अब उर्दू भाषा में विदेशी शब्दो की वैसी भरमार को सम्भवत प्रोत्साहन न मिल सकेगा। तब उर्दू और हिन्दी एक ही रह जाती हैं।

अब जरा अँग्रेजी भाषा के 'अहकार' पर भी विचार कर लेना चाहिये। उर्दू के उत्पात के पीछे कोई ठोस वैज्ञानिक आधार कभी नही रहा। वह केवल कतिपय विदेशी शासको की कमजोरीमात्र थी, जिसे वाद में कुछ साम्प्रदायिक रग देकर अखाडे में उतारा गया। वास्तविक रूप से मुस्लिम जनता का, जो हिन्दुओ में से निकलकर इस्लाम धर्म में दीक्षित हुई थी, अरबी-फारसी शब्दावली से वैसा कोई लगाव कभी न था। मुस्लिम जनता की यदि कोई स्वाभाविक साहित्यिक परम्परा हो सकती थी तो वह रसखान और जायसीवाली ही थी। इसके विपरीत अँग्रेजी भाषा के पीछे एक गौरवपूर्ण तत्त्व है। यह एक सर्वसम्मत तथ्य है कि अँग्रेजी भाषा ससार की समृद्धतम भाषाओ में से एक है। अँग्रेजी शासनकाल में सस्कृत-भाषा का विकास सर्वथा निरुद्ध और भारतीय लोक-भाषाओ का सीमित किया जा चुका था। ऐसी अवस्था में अँग्रेजी अपने साहित्यिक विकास के पूर्ण यौवन में भर शासनसत्ता की मदिरा से उन्मत्त हो मोहक लास्य नृत्य कर उठी, जिसने भारतीय विद्वज्जनो के मन को भी मोहित कर लिया। राज्यभाषा होने के कारण इसके उपासको को 'पद' और 'अर्थ' दोनो का लाभ होता ही था। इस सबके कारण भारतीय प्रतिभाओ को निखिल भारतीय रूप में आकर चमकने का अवसर न मिला। महाकवि रवीन्द्र बगाल के और श्री प्रेमचन्द्र इधर के होकर रह गये। इन प्रतिभाओ का अँग्रेजी रूपान्तर भारतीय जन-मानस से बहुत दूर की चीज़ हो जाता था। उसमें शासकीय रौब एव दुरूहता की गन्ध आने लगती थी। जब भारत में

विचारो के माध्यम के रूप में—अखिलदेशीय रूप से—कोई भाषा न रही तो यहाँ विचार-दारिद्रय और मौलिकता का महा अकाल पड गया। इसे देख लोगों की यही धारणा रह गई कि 'हिन्दुस्तानी अच्छा गुलाम होता है।' इस बढते हुए मर्ज की रोकथाम के लिए महात्मा गाँधी ने ले-देकर उन विषम परिस्थितियो में 'हिन्दुस्तानी' का आविष्कार किया। परन्तु समय ने सिद्ध कर दिया कि रोगी की प्रकृति के प्रतिकूल दी गई औषध फलवती सिद्ध नही होती। भाषा-विप्लव-काण्ड में 'हिन्दुस्तानी' का हुडदग एक धमाका बनकर रह गया।

यदि सक्षिप्तरूपेण भारतीय भाषा-विप्लव की अराजकता पर दृष्टि-पात करें तो हमें निम्न विनाशक परिणाम स्पष्टतया लक्षित होंगे—

(क) भारतीय सास्कृतिक भाषा सस्कृत अपने चिर-अधिष्ठित सिंहासन से पदच्युत कर दी गई। उसका स्थान लेने के लिए शासकीय शक्ति का सहारा लेकर क्रमश फारसी और अंग्रेजी व हिन्दुस्तानी भाषाएँ आईं। पर वे सफल न हो सकी, क्योंकि उनके पीछे भाषा-वैज्ञानिक नियमो का बल न था।

(ख) सास्कृतिक भाषा के अभाव में सास्कृतिक चेतना और प्रतिभा की मौलिकता को फलने-फूलने का माध्यम अनुपलब्ध हो गया। फलत सास्कृतिक दैन्य के लक्षण प्रकट होने लगे और भारत मे मानसिक दासता का जन्म हुआ।

(ग) इन सबके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय स्वरूप में विकार आने लगा।

(घ) व्यावहारिक भाषा का स्थान अंग्रेजी को मिल गया। राष्ट्रीय चेतना प्रान्तीय दैशिकता का रूप धारण कर खण्डित होती गई।

(च) भारतीय समाज कुछ ऐसे समुदायो में विभक्त हो गया जिनके

मध्य बड़ी अस्वाभाविक दीवार खड़ी हो गयी। अँग्रेजी जानने-वालो तथा अँग्रेजी से अनभिज्ञ लोगो के मध्य मिथ्या आडम्बर स्थान पा गया।

(छ) ग्रामीण समाज को मानसिक और सास्कृतिक चेतना की धारा से वञ्चित हो जाना पड़ा।

आखिर वह दिन भी आया, जबकि भारतीय सविधान में सस्कृत-निष्ठ हिन्दी को राजकीय भाषा स्वीकृत किया गया। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी की सस्कृतनिष्ठता बड़े महत्त्व की है। यदि हिन्दी को सम्कृत के आधार पर विकसित न किया गया तो यह भी पूर्ववर्ती प्रयोगो की तरह व्यर्थ होगा। सस्कृत-साहित्य अपनी विविध और समुन्नत परम्पराओ को प्रदान कर हिन्दी को गौरवान्वित कर सकता है। हमारे प्राचीन साहित्य की सर्वोत्कृष्ट देन—भारतीय नव-राष्ट्र के लिए—यही हो सकती है। सस्कृत में ही वह शक्ति निहित है जो एक सहस्र वर्षों से पथ-भ्रष्ट राष्ट्र को सस्कृति के उस पथ पर डाल सकती है जो राष्ट्रीय गौरव के उपयुक्त है।

इस परिस्थिति में राष्ट्रभाषा-सेवको पर जो महान् उत्तरदायित्व आ पड़ा है, उसके प्रति सजग रहने से ही सफलता सम्भव है। यह नितान्त आवश्यक है कि राष्ट्रभाषा के अध्ययन-क्रम के पीछे जो दृष्टि है उसमें मौलिकता एव गाम्भीर्य दोनो आ जायें। सस्कृत माता की सुखद गोद में बगाली, महाराष्ट्री और गुजराती आदि बहिनें इस प्रेम से मिल जाये कि मानो पितृगृह में आकर सगी बहनें परस्पर गले मिल गई हो। भारतीय गणतन्त्र की छत्रछाया में यह स्नेह-सम्मेलन चिरकाल तक सुधारस-धार प्रवाहित कर जन-मन को तृप्त करता रहे।

अँग्रेजी शिक्षा-विशारदो के निर्देश मे आधुनिक भारतीय भाषाओ की उच्च कक्षाओ एव सस्कृत भाषा का जो पाठ्य-क्रम निर्धारित था

वह पल्लवग्राही पाण्डित्य को ही जन्म दे सकता था। अब उस अध्ययन में ठोस गाम्भीर्य आने की आवश्यकता है। इस सबके अतिरिक्त अँग्रेज़ी भाषा को यहाँ से सादर विदा करने से पूर्व उसके अन्दर विद्यमान वैज्ञानिक साहित्य की अपूर्व विभूति को आत्मसात् करने का उपक्रम भी वाञ्छनीय है। आधुनिक वैज्ञानिक साहित्य के बिना संस्कृत, हिन्दी और अन्य सभी देशीय भाषाएँ युग-दृष्टि से अकिंचन ही हैं।

इतनी पृष्ठभूमि के पश्चात् अपनी बात भी कहनी आवश्यक है। भारतीय साहित्यिक परम्परा के सम्यगवबोध के बिना किसी भी भारतीय भाषा का अध्ययन अपूर्ण है। अतः इस तुच्छ प्रयास में आधुनिक हिन्दी काव्य-धाराओं को प्राचीन भारतीय काव्य-मतों की शृङ्खला में रखकर हिन्दी-काव्य की प्रगति को परखने की चेष्टा की गई है। आशा है कि हिन्दी और संस्कृत-साहित्य की उच्च कक्षाओं के अध्येता छात्रों को एक शृङ्खला में आबद्ध भारतीय काव्य-परम्पराओं को देखने का अवसर मिलेगा। आरम्भ में 'अलङ्कार-शास्त्र' के संक्षिप्त इतिहास को रख दिया है, ताकि विषय की रूपरेखा पहिले ही ज्ञात हो सके।

काव्यमतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में साधारणरूपेण निम्न तथ्य ध्यान रखने उचित हैं, ताकि शुद्ध साहित्यिक विवेक का अनुसरण सम्भव हो सके—

(१) प्राचीन भारतीय काव्यमत काव्य के स्वरूप की खोज में निकले हुए काव्यालोचकों द्वारा स्थापित हुए थे।

(२) जबकि आधुनिक हिन्दी के 'वाद' कवियों की रचनाओं को 'श्रेणी-बद्ध' करने से दीखने लगे हैं।

(३) कुछ 'वाद', जैसे 'प्रगतिवाद', रोटी के राग के रूप में साहित्यक्षेत्र में लाये गये हैं। इनका प्रादुर्भाव न कविकृत है और न आलोचकान्वेषित।

(४) अनेक वाद ऐसे भी हैं जो विदेशी 'आलोचना-क्षेत्र' से यहाँ आकर अभ्यागत रूप में उपस्थित हैं। उनकी उपस्थिति से हमारे आलोचना-साहित्य की शोभा बढ़ी है।

अलङ्कार-शास्त्र के अध्ययन का महत्त्व क्या है और उसके द्वारा किस लक्ष्य की पूर्ति होती है, यह भी विचारणीय है। 'हमारे यहाँ सभी कुछ है' की प्रवृत्ति जिस तरह कूपमण्डूकता की जन्मदात्री है, उसी तरह विलायत के नित्य-नवीन जन्म लेने वाले फैशनात्मक सिद्धान्ताभास भी जिज्ञासु को 'आकाश-वेल' बनाने के लिए काफी हैं। आवश्यकता इस बात की है कि तर्क-सगत विवेचन के सहारे विचारो की पारस्परिक तुलना, उनका साम्य वैषम्य के आधार पर वर्गीकरण और तदनन्तर शासक नियमो का उद्‌घाटन कर सकने की विश्लेषणात्मक क्षमता का उदय हो, ताकि सिद्धान्तो के वैज्ञानिक प्रत्यक्षीकरण का मार्ग प्रशस्त होता रहे। यह सब, उथले और प्रमाण-पत्र-प्रदायक परीक्षा-पास-मात्रात्मक अध्ययन से न हो सकेगा। डा० देवराज के अधोलिखित अभिमत मे सहमत होते हुए हमारी कामना है कि यह तुच्छ प्रयास साहित्य के सतुलित अध्ययन में सस्कृत-हिन्दी के छात्रो व जिज्ञासुओ को सहायक हो। इसी में हमारे श्रम की सफलता है—

"जो व्यक्ति काव्य-साहित्य का रस ग्रहण कर सकता है, उसे हम भावुक या सहृदय कहते हैं। यदि पाठकों और भावी आलोचकों की रस-ग्राहिणी शक्ति का स्वाभाविक रूप से विकास हो, तो सम्भवतः उसकी इतनी कमी, उसमें इतना विकार, न हो। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि हमारी काव्याभिरुचि का विकास काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी मतमतान्तरों के बीच होता है। हमारे शिक्षकों का उद्देश्य हमारी काव्यशास्त्र की रस ग्रहण करने की शक्ति को प्रबुद्ध और पुष्ट करना नहीं, अपितु कुछ विशिष्ट आलोचना-प्रकारों से परिचित कराकर परीक्षा में

भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास

"भरत से लेकर विश्वनाथ या जगन्नाथ पर्यन्त हमारे देश के अलङ्कार-ग्रन्थों में साहित्यविषयक जैसी आलोचना दीख पड़ती है वैसी ही आलोचना दूसरी किसी भाषा में आज तक हुई है, यह मुझे ज्ञात नहीं।" डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त

भारतीय विद्वानो का काव्यशास्त्र का अनुशीलन समृद्ध, प्रौढ, सूक्ष्म और वैज्ञानिक है। इसके पीछे सहस्रो वर्षो का इतिहास और न जाने कितने मनीषियो की साधना छिपी हुई है। विश्व के पुस्तकालय के प्राचीनतम ग्रन्थो—वेदो में, स्वयं वेद को काव्य कहा गया है। नि सन्देह वहाँ यह 'काव्य' शब्द एक विशिष्ट अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया है—"पश्य देवस्य काव्य न ममार न जीर्यति।" अर्थात् ए मनुष्य ! तू परमात्मदेव के उस काव्य को देख जो न कभी मरा है और न जीर्ण होता है। काव्य की इससे अधिक मौलिक एव स्पष्ट व्याख्या क्या हो सकती है ! काव्य को अजर-अमर कहकर कला के तत्त्वो को एक स्थान में समाहृत कर दिया है। इतनी पुष्ट व्याख्या के साथ-साथ काव्य शब्द का प्रयोग असन्दिग्धरूपेण इस बात का ज्ञापक है कि वैदिक ऋषि काव्य के स्वरूप व महत्ता से सम्यक्तया परिचित थे। इसके अतिरिक्त वैदिक ऋचाओ में भी उत्कृष्ट कोटि का काव्यत्व प्राप्त होता है, यह सब हम यथास्थान देखेंगे।

यद्यपि भारतीयो ने सहस्रो वर्षों की विशाल ग्रन्थ-रत्न-राशि और उसकी अमूल्य ज्ञान-निधियो को अद्भुतरीत्या सुरक्षित रखने की जो तत्परता दिखाई है वह न केवल प्रशसनीय ही है, अपितु आश्चर्यजनक

भी हैं, तो भी आत्मविज्ञान की अत्यन्त अरुचि के कारण इतिहास के प्रति उनकी उदासीनता साहित्य-शास्त्र के विकास-क्रम को समझने में भारी कठिनाई उपस्थित करती है। प्रचुर एव पर्याप्त इतिहास-सामग्री के अभाव में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ तक पैदा हो जाती हैं। विकास-क्रम के उत्साही छात्र की इस असहायावस्था में एकमात्र मार्ग यही है कि वह अपनें काव्यशास्त्र के इतिहास का अध्ययन भरतमुनि के 'नाटयशास्त्र' से प्रारम्भ करे।

काव्यशास्त्र के सिद्धान्तो और विवेचनो के सम्यक् वोध के लिए उसकी ऐतिहासिक क्रम-बद्धता भी आवश्यक है। परन्तु उसे प्राप्त करना अति कठिन है। उसके लिए एतद्विपयक भारी अनुसन्धान-सामग्री और श्रम की अपेक्षा है। जिन कारणो से काव्यशास्त्र का इति-हास दुर्लभ वना हुआ है उनका यहाँ निर्देश कर देना आवश्यक है —

१. विद्वानो के उपलब्ध ग्रन्थ अपने मूल रूप में प्राप्त नही हैं। प्रक्षिप्त अश काफी रहता है। फिर मूल और प्रक्षिप्ताश का विवेक करना और भी दु साध्य है। अत इस प्रकार के मिश्रित ग्रन्थो के काल-निर्णय में त्रुटि रह जाती है। अथच मानवजाति के दुर्भाग्य से पता नही कितने ग्रन्थ अप्राप्त हैं, और कितने ही विनष्ट होकर सदा के लिए अस्तित्वहीन हो काल के गाल में समा गये। उदा-हरणार्थ नन्दिकेश्वर के नाम से कामशास्त्र, गीत, नृत्य और तन्त्रसम्वन्धी पुस्तको का उल्लेख तो मिलता है परन्तु अद्यावधि उनमें से कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही हुआ है।
२ भारतीय विद्वानो ने अपने विषय में प्राय कुछ भी परिचय नही दिया है। अत उनके जीवन, काल, रचित ग्रन्थो और प्रतिपादित सिद्धान्तो का पता पाना कठिन है।
३ अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनका क्रमश विकास होता रहा है। भरत का 'नाटयशास्त्र' ऐसा ही ग्रन्थ है। उसे देखकर यह प्रतीत होता

है कि यह अनेक समयो में अनेक व्यक्तियो द्वारा सम्पादित होता रहा है।

अस्तु ! जब तक काव्यशास्त्र के इतिहास का ठीक-ठीक ज्ञान नही हो पाता तब तक काव्यशास्त्र के अन्तर्गत उठनेवाले साहित्यिक मतो और वादो का समझना व उनका महत्त्व अङ्कित करना नितान्त क्लिष्ट है। फिर भी श्रमशील विद्वज्जनो की कृपा से हमें काव्यशास्त्र के इतिहास का एक मोटा-सा ढाँचा प्राप्त है। इसलिए उस ढाँचे की रूप-रेखा से अवगत होकर हमें अपना काम चलाना पडेगा।

× × ×

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥ नाट्यशास्त्र ॥

जब किसी सुनसान बीहड वन के खण्डहर में किसी भगोडे सम्राट् की रानी के गर्भ से युवराजपदभाक् कुमार का जन्म हुआ होगा तो राज-दम्पती की तात्कालिक मानसिक वेदना, विक्षोभ और निरीहता का अनुमान आज वीणापाणि भगवती देवी को अवश्य ही हो रहा होगा। आधुनिक बुद्धिवादी रिसर्च-स्कॉलर जब महारानी सरस्वती तक के वरेण्य पुत्र "काव्यपुरुष" का जन्म किसी घुनखाई प्राचीन पुस्तक में खोज निकालते है और 'कुमार' के विकासक्रम को तर्कपूर्ण अनुसन्धानो मे शनै शनै उद्घाटित करते चलते हैं तो उन्हें 'काव्यमीमासा' में राजशेखर द्वारा वर्णित ब्रह्मा की आज्ञा से सम्पन्न पुत्र-जन्मोत्सव की याद अवश्य आ जाती होगी ! कहाँ वह ऐश्वर्य, कल्पना और वाग्विभूति से सम्पन्न चमचमाता जन्मोत्सव और कहाँ आज की दारिद्र्यपूर्ण पहाड की चढाई जैसी शुष्क खोज ! खैर, यह तो काल-क्रम से प्राप्त सरस्वती-देवी की विपत्ति की कहानी है। आज के इस मँहगे वैज्ञानिक युग में सरस्वती-पुत्र काव्यपुरुष तक के जन्मोत्सव में कल्पना, और वाग्विभूति जैसी मूल्यवान् वस्तुओ को देख-भाल कर खर्च करना पडेगा। अत:

राजशेखर के आलङ्कारिक वर्णन से काव्यशास्त्र का जन्म कब, कहाँ, कैसे हुआ इसका समाधान न हो सकेगा। उसे छोड हम सीधी तरह बुद्धि व तर्क से निशित 'ऑपरेशन' के सभी प्रकार के औजार लेकर प्राचीन ग्रन्थो के किसी आवास-गृह मे पहुँचें और अपने चीर-फाडात्मक कार्य से गुरु-गृहो में गुरु-मुख से निरन्तर श्रूयमाण किम्वदन्तियो और जनश्रुतियो का मवाद अलग कर शुद्ध तथ्य का रूप सामने लायें। और जिस समय जिस स्थान मे 'काव्यपुरुष' के प्रथम दर्शन हो वही दिन वही स्थान उसकी जन्मतिथि व जन्मभूमि उद्घोषित कर दे। ऐसा करके शायद हम वैज्ञानिक होने का श्रेय प्राप्त कर सकेंगे।

भारतीय वाङ्मय की प्राचीनतम उपलब्ध पुस्तक ऋग्वेद है, जो शायद ससार की भी सबसे पुरानी पुस्तक होने के साथ-साथ पद्यबद्ध भी है। उसे स्वय वेद-भगवान् 'काव्य' कहते हैं, ऐसा हमने ऊपर निर्दिष्ट किया है। भारतीय आस्तिक्य बुद्धि और निष्ठा के अनुसार वेद के अजर-अमर काव्य का कर्त्ता यदि ईश्वर को मान लिया जाय तो उसके कवि होने के लिए प्रमाण चाहिये। वेद-भगवान् हमें ऐसा ही बताते है कि वह—"कविर्मनीपी परिभू स्वयभू"—है। अर्थात् वह क्रान्तदर्शी, मननशील, व्यापक और स्वयमेव होनेवाला है। वेद ने अपनी विचित्र शैली में हमें यह भी बता दिया कि कवि का लक्षण क्या है ?—वह क्रान्तदर्शी, मनन करनेवाला, व्यापक दृष्टि सम्पन्न और 'स्वत जात' होता है। 'निराला' के "कुकुरमुत्ते" की तरह कवि भी पैदा नही किये जाते, वे स्वयमेव हुआ करते है। जिन व्यक्तियो में इन चार मूलभूत विशेपताओ की सम्पत्ति पृष्ठभूमि के रूप में विद्यमान होती है वे ही अपनी अनुभूतियो को इस प्रकार व्यक्त कर सक्ते हैं जो समान रूप से दूसरो के हृदय में भी उसी प्रकार की अनुभूतियाँ जगा सकें—अर्थात् उनमें साधारणीकरण की अलौकिक क्षमता वर्तमान रहती है। आधुनिक साहित्य-समीक्षक भी उसे कवि ही बताते हैं।

ऊपरलिखित कवि के 'काव्य' में काव्य का "व्यवहारगत रूप" और विवेचन से सम्बन्धित सकेत, दोनो ही मिलते हैं। यहाँ पर हम क्रमश इसी का उल्लेख करते है —

[क] १ निम्न मन्त्र की उपमाओ को कालिदास व अश्वघोष की उपमाओ से मिलान करके देखिये। उनकी चित्रवत् मूर्तविधायिनी क्षमता स्वत स्पष्ट हो जायेगी—

(i) **सूर्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेषा समुद्रस्येव महिमा गभीरः।**
वातस्येव प्रजवो नान्येन स्तोमो वसिष्ठा अन्वेतवेवः॥

(इन ऋषियो का तेज सूर्य के तेज की तरह महिमा समुद्र की गहराई के समान अथाह और बल वायु-प्रवेग के समान होता है। ' ')

(ii) कालिदास दिलीप का चित्र इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं —

व्यूढोरस्को वृषस्कन्ध· शालप्राशुर्महाभुज ।
(रघु० १।१२)

(सुविशाल वक्षवाला, वृष के समान स्कन्धवाला और शाल वृक्ष के समान प्रलम्बमान बाहुवाला)

(iii) और नन्द-वर्णन में अश्वघोष कहते है —

दीर्घबाहुर्महावक्षा' सिंहासो वृषभेक्षणः।
(दीर्घ भुजाओ वाला, महान् वक्षवाला इत्यादि)

२ वैदिक उक्ति की वक्रता की बानगी भी इस अन्योक्ति में दर्शनीय है —

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्ष परिषस्वजाते ।
तयोरन्य· पिप्पल स्वाद्वत्त्यनश्नन्नभिचाकशीति ॥

॥१,१६४;२०॥

(दो पक्षी—आत्मा और परमात्मा - मित्रभाव से मिलकर एक ही वृक्ष—जड प्रकृति—पर बैठे है। उनमें से एक—जीवात्मा—स्वादु पिप्पाली को खाता है—प्रकृति का उपयोग करता है। दूसरा परमात्मा—

केवल द्रष्टा रूप से स्थित है) । इसमें ईश्वर, जीव और प्रकृति सम्बन्धी वैदिक त्रैतवाद का निर्देश है ।

३ प्रकृतिवर्णन मे भी काव्य-दृष्टि रमणीय है। अशनिपात का आलङ्कारिक वर्णन कितना सुन्दर है —

अपोषा अनस सरत्सपिष्टादह विभ्युषी नियत्सीं शिश्नथद् वृषा ॥

॥४ ३०, १०॥

(जब वृष्टिकर्त्ता वायुरूपी साँड ने इस मेघ-शकट पर प्रहार किया तब उस पर स्थित शकट-स्वामिनी दामिनी भयभीत होकर सचूर्णित मेघ-शकट से भाग निकली) । यहाँ पर वेद का कवि एक शुष्क वैज्ञानिक तथ्य को काव्यमय भाषा में प्रकट करता है ।

४ आकाश के गायक मेघो के लिए भी कामना है—

सुजातासो जनुषा रुक्मवक्षसो दिवो अर्का अमृत नाम भेजिरे ॥

॥ऋ० ५।५७।५॥

(कल्याणार्थ उत्पन्न ज्योतिर्मय वक्षवाले इन आकाश के गायको की ख्याति अमर हो ।)

[ख] अब काव्य-विवेचन सम्बन्धी कतिपय वैदिक सकेतो को लीजिये —

(i) सुबुध्न्या उपमा अस्य विष्ठा ॥यजु०१०।१६।११ ॥

(जिसके विविध स्थलो में स्थित अन्तरिक्षस्थ लोक-लोकान्तर उपमाभूत हैं) ।

(ii) यो अग्नि काव्यवाहन पितॄन् ॥ऋ० १०।१६ ११॥

(जो कवियो के लिए हितकारी, तेजस्वी ब्रह्मचारी है)

(iii) विधु दद्राण समने बहूना युवान सन्त पलितो जगार ।

देवस्य पश्य काव्य महित्वाद्या ममार स ह्य समान ॥१०।५।५५

इन उद्धृत मन्त्रो में "कवियो के लिये हितकारी काव्य और उपमा सभी मौजूद हैं ।"

वेदो के सिवाय ब्राह्मणादि ग्रन्थो में हमारे काम की सामग्री प्राय नहीं है। हां, महाकाव्य-काल के रामायण और महाभारत में काव्य के सभी अङ्गो की सुन्दर परम्परा पाई जाती है। रामायण के बालकाण्ड में नव-रसों का उल्लेख मिलता है —

रसै शृंगारकरुणहास्यरौद्रभयानकै ॥
वीरादिभि रसैयुक्तं काव्यमेतदगायताम् ॥

यद्यपि अधिकाश विद्वान् इसे प्रक्षिप्त मानते हैं तो भी रामायण में काव्यशास्त्र के विवेचन की सामग्री का अभाव नही है। आदि कवि का प्रथम छन्दोच्चारवाला उपाख्यान अवश्य ही काव्य की मूल प्रेरक शक्ति क्या है, इस प्रश्न के उत्तर में है।

निशम्य रुदतीं क्रौञ्चीमिद वचनमब्रवीत् ॥
मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगम. शाश्वतीसमा ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी. काममोहितम् ॥

क्रौञ्चमिथुन में से एक का वध हो जाने पर क्रौञ्ची की वियोग-कातर अवस्था ने कवि-हृदय में वेदना का सञ्चार किया, इस प्रकार उद्वेलित हृदय का उद्गार श्लोक-रूप में सामने आ गया। कवि स्वय-मेव काव्यस्फुरण की इस घटना का पर्यालोचन कर बताते है कि—

शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोक ' भवतु नान्यथा—

सिवाय कविता के यह और कुछ भी नही है। दूसरो ने भी इसे इसी रूप में स्वीकार किया —

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ. शोक. श्लोकत्वमागत. ॥

॥ ध्वन्यालोक ।१।५॥

काव्यालोचन के सिद्धान्तो की मूलभूत समस्या, जो भारतीय चिन्तको को सदा सताती रही है, यही है कि काव्य की आत्मा क्या है ? सभी प्रश्न इस एक ही प्रश्न के समाधान की प्रतीक्षा में है। आदिकवि ने

अपनी तात्त्विक दृष्टि से इसका व्याख्यान सर्वथा मौलिक ढग से कर दिया। यही व्याख्यान हमारे काव्यालोचन की आधारभूत भित्ति बना। इसी कारण वाल्मीकि को आदिकवि कहा गया। डा० नगेन्द्र के अनुसार उक्त व्याख्यान से निम्न काव्य-सिद्धान्त निष्कर्ष रूप से हमें प्राप्त होते हैं —

(i) काव्य की मूल प्रेरणा भावातिरेक है। सैद्धान्तिक शब्दावली में काव्यात्मा भाव या रस है।
(ii) काव्य अपने मूल रूप में, आत्माभिव्यक्ति है।
(iii) कवि रसस्रष्टा होने से पूर्व रस-भोक्ता है।
(iv) भावोच्छ्वास और छन्द का मूलगत सम्बन्ध है।

कहना न होगा कि उक्त चारो सिद्धान्त भारतीय काव्यालोचन के भव्य भवन के आधार-स्तम्भ बन गये हैं।

महाकाव्यो के पश्चात् शब्दशास्त्र के ग्रन्थो में भी काव्य-सिद्धान्तो का प्रासङ्गिक व्याख्यान मिलता है। यास्काचार्य ने वैदिक कोष निघण्टु और निरुक्त मे सम्पूर्ण क्रियाओ का षड्भावविकारो में समाहार, शब्दो का नित्यत्व प्रतिपादन, देवताओ के भक्तिसाहचर्य-प्रकरण में छन्दो का विभाजन एव निर्वाचन और उपमाओ का विवेचन करने के द्वारा काव्य-शास्त्र के सैद्धान्तिक अनुशीलन का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इसी प्रकार पाणिनि और महाभाष्यकार पतञ्जलि के व्याकरण में काव्यशास्त्र-सम्मत 'उपमित', 'उपमान' और 'सामान्य' का उल्लेख है। हमारे वैयाकरणो ने शब्दशास्त्र का जिस वैज्ञानिक प्रौढता से निर्माण व सम्पादन किया है उस सबसे यही प्रतीत होता है कि काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तो का भी विवेचन उसी प्रणाली पर होता रहा होगा, क्योकि काव्यशास्त्र शब्दविचार के अन्तर्गत ही है। इस तथ्य की स्वीकृति 'काव्य-प्रकाश' में यह कहकर—"बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भा-

वितवाच्यव्यंग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य"—की है। यहाँ पर वे स्पष्टतया बताते है कि उन वैयाकरणों के ही मतानुसार अन्यो ने भी वाच्यार्थ को गौण बना व्यङ्ग्यार्थ के ज्ञापक शब्द अर्थ दोनो को ही 'ध्वनि'-काव्य माना है।

व्याकरण की तरह भारतीय दर्शनशास्त्र भी अपनी सूक्ष्मवीक्षण शक्ति तथा परिपूर्णता के लिए विख्यात है। प्राचीन समय में अध्ययन की परिपाटी गुरू को केन्द्र मानकर चलती थी। शिष्य अपने गुरू के दार्शनिक सिद्धान्तो का कट्टर अनुयायी होता था। इसी में उसका शिष्यत्व था। ऐसे शिष्य जब व्याकरणादि अन्य क्षेत्रो में पहुँचते थे तो वे उन शाखाओ के सिद्धान्तो की व्याख्या अपने दार्शनिक मतो के अनुकूल करते थे। इस प्रकार व्याकरणादि और दर्शन के सिद्धान्त परस्पर मँज-धुल कर गुँथे हुये है। सिद्धान्तो के इस परिमार्जन का क्षेत्र काव्यशास्त्र तक भी अवश्य विस्तृत हो गया होगा। इसी कारण हम बाद को भी इसी परिपाटी का अनुसरण करते हुए लोल्लट, शकुक, भट्टनायक, अभिनव-गुप्त आदि को देखते है, ये सभी क्रमश मीमासा, न्याय, साख्य और वेदान्त दर्शनो के अनुयायी थे और अपने दार्शनिक सिद्धान्तो के प्रकाश में ही काव्यशास्त्र-सम्बन्धी तथ्यो का विवेचन करते थे। अत व्याकरण व दर्शन ग्रन्थो की शैलियो को देखने से प्रतीत होता है कि प्राचीन पण्डित विभिन्न शास्त्रो के क्षेत्र में दिग्विजय कर अपने दार्शनिक मत की सर्वोपरि प्रतिष्ठा के लिये अवश्य लालायित रहते होगे। अत काव्यशास्त्र में भी उनका प्रसार अवश्य रहा होगा। यह बात तब अनुमान कोटि से बढकर सिद्ध तथ्य तक जा पहुँचती है जब हम भरत को अपने नाट्यशास्त्र' में कृशाश्व व शिलालिन् जैसे काव्यशास्त्राचायो का उल्लेख करते हुए पाते है।

अभी तक हमने यह देखा कि काव्यपुरुष के चरणचिह्न सभी प्राचीन ग्रन्थो में अधिकता से पाये जाते है। परन्तु उसका मूर्त्त साक्षा-

त्वार भरत के नाटयशास्त्र के रूप में ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी में ही आकर होता है। तथापि काव्यशास्त्र के अनुशीलन की परिपाटी भरत से प्राचीनतर है।

नाव्यशास्त्र के रूप में

काव्यशास्त्र का स्व-तन्त्ररूपेण दर्शन

'काव्यमीमासा' में राजशेखर ने काव्य-पुरुष की उत्पत्ति बताते हुए लिखा है कि साहित्य-शास्त्र का प्रथम उपदेश शिव ने ब्रह्मा को किया, ब्रह्मा से दूसरो को मिला। और यह भी निर्देश किया कि उसके अठारह अधिकरणो के अठारह आदि-प्रवक्ता कौन-कौन थे? रस-प्रकरण के विषय मे—"**रसाधिकारिक नन्दिकेश्वर**"—कहकर रस का आदि व्याख्याता नन्दिकेश्वर को बताया है। यह बात सम्भव हो सकती है, क्योंकि नन्दिकेश्वर का उल्लेख अन्य अनेक लेखको ने भी किया है। अभिनवभारती में अभिनवगुप्ताचार्य लिखते हैं—"**यत्कीर्तिधरेण नन्दिकेश्वरमतमत्रागमित्वेन दर्शित तदस्माभि साक्षान्नदृष्ट तत्प्रत्ययात्तु लिख्यते सक्षेपत** ।" अर्थात नन्दिकेश्वर की कृति को हमने देखा नही है परन्तु उनके मत के विषय में कीर्तिधर को प्रमाण मान लिया है। इसी प्रकार प्राचीन अभिलेखो में 'सुमति' नामक किसी विद्वान् के 'भरतार्णव' नामक ग्रन्थ का, जो नन्दिकेश्वर के ग्रन्थ के आधार पर निर्मित हुआ था, उल्लेख पाया जाता है। शारदातनय के 'भावप्रकाशन' में तो स्पष्टतया यह बताया गया है कि नन्दिकेश्वर ने भरतमुनि को नाटयशास्त्र का उपदेश दिया। इस सबके अतिरिक्त नाटयशास्त्र मे रस-सिद्धान्त का व्याख्यान सक्षिप्त होते हुए भी अत्यन्त प्रौढ एव वय प्राप्त प्रतीत होता है। अत यह मान लेना कि रस-सिद्धान्त का प्रतिपादन भरत के पूर्व समय से ही होता चला आया था सर्वथा तर्कसगत है, चाहे हमारे पास एतद्विषयक नाटयशास्त्र के सिवाय और कोई प्राचीनतर ग्रन्थ न भी हो।

इतना ही नही, सस्कृत के काव्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थो में अनेक उद्धरण ऐसे भी हैं जिनसे भरत के पूर्व हुए अन्य अनेक आचार्यों और

उनके ग्रन्थो के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। नान्यदेव ने अपने भरतभाष्य (नाट्यशास्त्र की टीका) में मतङ्ग, विशाखिल, कश्यप, नन्दिन् और दन्तिल आदि पूर्वाचार्यों का नामोल्लेख किया है। 'काव्यादर्श' की 'हृदयङ्गमा' टीका में—'**पूर्वेषां काव्यपवररुचिप्रभृतीनामाचार्याणा लक्षणशास्त्राणि संहृत्य पर्यालोच्य** ' " इस प्रकार से पुरातन आचार्यों का स्मरण किया गया है।

इन अवस्थाओ में राजशेखर की साक्षी के सहित नन्दिकेश्वर को आदि आचार्य माननेवाली किम्वदन्ती, भरत द्वारा कृशाश्व व शिलालिन् नामक पूर्वाचार्यो का उल्लेख और भामह व दण्डीकृत मेधाविन् व कश्यप का स्मरण इत्यादि सभी के होते हुए भी काव्यशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ नाटचशास्त्र को ही मानना पडता है, क्योकि उक्त किम्वदन्ती, उल्लेख और स्मरणमात्र तत्तद् ग्रन्थो के अभाव में कोई विशेष सहायता नही कर सकते। परन्तु इतना अवश्य स्वीकार करके चलना पडेगा कि हमारा यह ऐतिहासिक अध्ययन अपूर्ण ही है।

नाटचशास्त्र आकार व महत्त्व दोनो की दृष्टि से विशाल ग्रन्थ है। उसका मुख्य प्रतिपाद्य रूपक है, काव्य नही। तथापि नाटक के साङ्गोपाङ्ग वर्णन के साथ प्रसङ्गवश छठे और सातवें प्रकरण में रस का निदर्शन भी है। "**विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति**"—यह प्रसिद्ध सूत्र भरत का ही है। सोलहवे प्रकरण में अलङ्कारनिरूपण सक्षिप्त ही है। नाटयशास्त्र पर अनेक टीकाएँ भी है, परन्तु उन सबमें अभिनवगुप्त की 'अभिनवभारती' सर्वाधिक विद्वत्तापूर्ण है।

भरत का नाट्यशास्त्र

शैली की दृष्टि से इसमें सूत्र, कारिकाएँ और भाष्य का क्रम विद्यमान है। श्लोको के साथ कही-कही गद्यखण्ड का भी समावेश है। यद्यपि नाटयशास्त्र का कुछ अ श बहुत बाद का मालूम होता है तो भी कुछ भाग निश्चय ही ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी से भी पूर्व का दीखता है।

सम्भव है कि वर्तमान नाट्यशास्त्र किसी प्राचीनतम कृति का विकसित रूप हो।

नाट्यशास्त्र का कर्त्ता भरतमुनि को बताया जाता है। डाक्टर काणे का अनुमान है कि नाट्यशास्त्र किसी भरत नाम के व्यक्ति ने नही अपितु भरतो (नटो) ने सगृहीत कर नटो के कुल को महत्त्व प्रदान करने के लिए महामुनि के नाम से विख्यात कर दिया। यह तो कह ही चुके है कि नाट्यशास्त्र की रचना विभिन्न प्रकार की है। अत यह स्पष्ट है कि वह अनेक प्रकार से अनेक समयो में अनेक आचार्यों द्वारा सम्पादित होता रहा है। इस प्रकार उसका रचनाकाल ई० पू० २०० से लेकर ई० पू० ३०० तक निर्धारित होता है।

काव्यशास्त्र-सम्बन्धी उपलब्ध ग्रन्थो मे भरतमुनि का नाटयशास्त्र ही प्राचीनतम है—इस स्थापना के विपरीत कुछ लोग अग्निपुराण को सामने लाते है और 'काव्यप्रकाशादर्श' में से महेश्वर के इस कथन को उद्धृत करते हैं—"गहने शास्त्रान्तरे प्रवर्तयितुमग्निपुराणादुद्धृत्य काव्यरसास्वादकारणमलङ्कारशास्त्र कारिकाभि सक्षिप्य भरतमुनि प्रणीतवान्।" परन्तु अग्निपुराण को देखने से ज्ञात होता है कि वह भामह, दण्डी, और ध्वन्यालोक आदि से भी अर्वाचीन है। उसमें ध्वनि-सिद्धान्त का उल्लेख होने से ही यह बात स्पष्ट है।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के पश्चात् ईसा की सातवी व आठवी शती में भामह और दण्डी दो प्रमुख आचार्य हुए। बीच के काल में काव्यशास्त्र-विषयक प्रगति का इतिहास अभी तक अन्धकार में ही है। परन्तु इतना निश्चित है कि इस समय भी काव्यशास्त्रानुशीलन की परिपाटी का क्रम यथापूर्व जारी था। भामह ने अपने से पूर्व हुए आचार्यों के ग्रन्थो का निर्देश किया है—"इति निगदितास्तास्ता वाचामलङ्कृतयो मया बहुविधिकृतीर्दृष्ट्वान्येषा स्वय परितर्क्य च ''इत्यादि। मेधाविन् नाम के आचार्य का तो उसने दो बार उल्लेख किया है और

उसके वताये हुए उपमा-दोषो की गणना की है -"त एत उपमादोषाः सप्तमेधाविनोदिता ।" परन्तु मेधाविन् के ग्रन्थ की उपलब्धि न होने मे उनके विषय में आगे कुछ नही कहा जा सकता ।

इसके अतिरिक्त ईसा की छठी शताब्दी में दो ऐसे ग्रन्थ निर्मित हुए जो वास्तव में काव्यशास्त्र-विषयक नही, फिर भी उनमें साहित्य-विवेचन को स्थान दिया गया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण ने तृतीय खण्ड में प्राय नाटचशास्त्र का अनुकरण करते हुए नाटय और काव्य का विवेचन किया है। इसी प्रकार भट्टिकाव्य, जो व्याकरण का ग्रन्थ है, में भी काव्य-विवेचन पाया जाता है।

इतने से निम्न दो वातो का पता चलता है —

(i) इस समय काव्यशास्त्र का महत्त्व पूर्णतया प्रतिष्ठित था, जिसके कारण उसको पुराणो और व्याकरण-ग्रन्थो में भी स्थान दिया गया।

(ii) भरत के नाटचशास्त्र को अपने विषय का प्रमाण-कोटि का ग्रन्थ माना जाता था, इसीलिए उसे विष्णुधर्मोत्तर पुराण के कर्ता ने आधार वनाया।

भरत ने रस का उल्लेख वाचिक अभिनय के प्रसङ्ग में किया है। अत ऐसा ज्ञात होता है कि परवर्ती कतिपय आचार्यों ने रस को नाटक तक ही सीमित समझा। इसीलिए हम देखते हैं कि भामह यद्यपि रस-सिद्धान्त से पूर्णतया परिचित थे तो भी उन्होंने काव्यात्मा अलङ्कार को ही स्वीकृत किया। भामह का समय ८वी शताब्दी माना जाता है। इस प्रकार भामह रस-विरोधी प्रथम आचार्य हुए, जिन्होंने 'अलंकार-सम्प्रदाय' की स्थापना की। हम देखेंगे कि भामह के अनुयायी दण्डी, उद्भट और रुद्रट हुए जिन्होंने उनके मत का अनुसरण किया। आचार्य भामह ने अलकार शब्द को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए रचना एव कल्पना के सौन्दर्य को काव्यात्मा कहा। उनके मत में वक्रोक्ति (काव्या-

और रीति मतों का बड़ा जोर एव स्पर्धा थी। रीतिमत ने गुणो और दोषो के विस्तृत विवेचन के फलस्वरूप गुण-सहित निर्दोष पद-विन्यास को काव्यात्मा माना गया।

रुद्रट ने 'काव्यालकार' की रचना ८२५ ई० और ८७५ ई० के मध्य में की होगी। इन्होंने सर्वप्रथम वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर अलङ्कारो का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया। इनका अलङ्कार-विवेचन भी पूर्वाचार्यों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है। रस का भी ये महत्त्व स्वीकार करते हैं—'तस्मात्तत्कर्तव्य यत्नेन महीयसा रसैयुक्तम्।" तथापि ये अलङ्कारवादी ही थे। इनकी दृष्टि में रीतियाँ चार हैं। नमिसाधु की 'काव्यालकार' पर टीका है।

नौवी शताब्दी के उत्तरार्ध में आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' की रचना के कारण 'काव्यशास्त्र' के इतिहास में युगान्तर पैदा हो गया। इस महान् ग्रन्थ को टीकाकार भी उतना ही महान् मिला। अभिनव-गुप्ताचार्य ने दसवी सदी के उत्तरार्ध में इस पर 'लोचन' नाम की टीका लिखकर ग्रन्थ के गौरव में चार चाँद लगा दिये। डा० काणे ने 'ध्वन्यालोक' और उसकी टीका 'लोचन' के विषय में कहा है—"अलकारशास्त्र के इतिहास में ध्वन्यालोक युगान्तरकारी कृति है, अलङ्कारशास्त्र में इसकी वही महत्ता है जो व्याकरण में पाणिनि के सूत्रो और वेदान्त में वेदान्तसूत्रो की। और अभिनवगुप्त की टीका पतञ्जलि के महाभाष्य और शकराचार्य के वेदान्तभाष्य के तुल्य है।"

ध्वन्यालोक में १२९ कारिकाएँ, वृत्ति अर्थात् भाष्य और पूर्व कवियो के श्लोक उदाहरण रूप मे सगृहीत हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ चार भागो (उद्योतों) में विभक्त है। 'ध्वन्यालोक' से पूर्व रस-सिद्धान्त एक प्रकार से अव्याप्ति दोष से घिरे हुए होने की-सी स्थिति में था। 'नाट्यशास्त्र' में रस का कथन जिस ढग से किया गया है उससे यह भ्रम हो जाना स्वाभाविक था कि उसका सम्बन्ध विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियो

की उपस्थिति के क्षेत्र से ही है। इन पर अलङ्कारवादियो और रीति-मतानुयायियो की बाह्यार्थनिरूपिणी दृष्टि मे काव्यात्मा का प्रश्न हल होता हुआ नही दिखाई दिया। फुटकर आकर्षक पद्यो के विषय मे यह शका बार-बार उठती रही होगी कि इनमें काव्यत्व की व्याख्या कैसे सम्भव है ? इन सभी शकाओ का सुन्दर और व्यवस्थित समाधान ध्वनिकार ने 'रस-सिद्धान्त' के मन्तव्य को जरा और अधिक विकास देकर 'ध्वनि-सिद्धान्त' के रूप में प्रस्तुत किया। अत यह कहा जाना कि 'ध्वनि-सिद्धान्त' 'रस-सिद्धान्त' का ही विकसित रूप है, सर्वथा उचित है। रस के सम्बन्ध में यह मन्तव्य स्थिर किया गया था कि वह वाच्य न होकर व्यङ्ग्य ही होता है। इसी बात को जरा आगे बढा-कर 'ध्वन्यालोक' में इस प्रकार रखा गया कि सर्वोत्तम काव्य वह है जिसमें लावण्ययुक्त व्यङ्ग्यार्थ प्रधान रहता है।

'ध्वन्यालोक' ने एक महत्त्वपूर्ण कार्य और भी किया, उसने काव्य के सभी प्रतिपाद्य विषयो का उचित रीति से समन्वय किया। अत 'ध्वनि-सिद्धान्त' एक प्रकार से सर्वमान्य-सा हो गया। परन्तु इस स्थिति में पहुँचने तक उसे प्रतिहारेन्दुराज, वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक, भट्ट-नायक और महिमभट्ट जैसे आचार्यो की तीव्र समालोचना का लक्ष्य बनना पडा। 'ध्वन्यालोक' का रचनाकाल ८६० ई० से ८९० ई० के बीच स्थिर होता है।

नौवी शताब्दी के उत्तरार्ध में रचित राजशेखर की 'काव्यमीमासा' और मुकुलभट्ट की 'अभिधावृत्तिमातृका' नामक दो रचनाएँ और भी मिलती हैं। "काव्यमीमासा" कवियो को विविध प्रकार की जानकारी देनेवाला एक कोष के किस्म का ग्रन्थ है। इसमें १८ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में काव्यपुरुषोत्पत्ति-सम्बन्धी आलङ्कारिक वर्णन है। विभिन्न कवियो के उदाहरण रूप में प्रस्तुत श्लोक और आचार्यो के मन्तव्यो का भी अच्छा सग्रह है। राजशेखर कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल (महीपाल)

के गुरु थे। इनकी पत्नी का नाम अवन्तिसुन्दरी था। मुकुलभट्ट प्रतीहारेन्दुराज के गुरु थे। इनके ग्रन्थ में कुल १५ कारिकाएँ हैं, जिनमें अभिधा और लक्षणा नामक दो शब्द-शक्तियो का विवेचन है।

अभिनवगुप्त के गुरु आचार्य भट्टतौत का 'काव्यकौतुक' अभी तक अनुपलब्ध है। इसका रचनाकाल ९५० ई० और ९८० ई० के बीच में अनुमानित होता है। काव्यशास्त्र के ग्रन्थो में उद्धृत उद्धरणो के आधार पर उसके विपय में यह अनुमान किया जाता है कि रस-सिद्धान्त का इसमें मुख्यतया प्रतिपादन था। नाट्यशास्त्र के सम्बन्धित स्थलो का भी इसमें स्पष्टीकरण रहा होगा। यह भी मालूम होता है कि आचार्य भट्टतौत अनेक साहित्य-शास्त्र-सम्बन्धी स्वतन्त्र सिद्धान्तो के प्रतिपादक थे। अभिनवगुप्ताचार्य स्थान-स्थान पर "इत्यस्मदुपाध्याया" कहकर उनके मन्तव्यो का उल्लेख करते हैं। अत इसमें सन्देह नही कि भट्टतौत ने अभिनवगुप्त के ऊपर और इसीलिए रस-सिद्धान्त के विवेचन में भी, महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला है।

उनके कतिपय साहित्य-सम्बन्धी सिद्धान्त निम्न प्रकार है —

१ शान्त रस मोक्षदायक होने से सर्वोपरि है—"मोक्षफलत्वेन चाय (शान्तो रस) परमपुरुषार्थनिष्ठत्वात्सर्वरसेभ्य प्रधानतम।"—लोचन।

२ "प्रीत्यात्मा च रसस्तदेव नाट्य नाट्य एव च वेद इत्यस्मदुपाध्याय"—लोचन।

३ जब कवि अपनी अलौकिक शक्ति के द्वारा पाठक को विषय का 'प्रत्यक्षवत्' करा देता है, रसानुभूति तभी होती है।—"काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदय इत्युपाध्याया।"—लोचन

४ रसानुभूति कवि, नायक, और सहृदय सामाजिक को समान रूप से होती है—"नायकस्य कवे श्रोतु समानोनुभवस्तत।"—लोचन। अर्थात् रस-स्थिति कवि, नायक और पाठक तीनो में है।

इसके बाद ध्वनि-सिद्धान्त के समर्थ विरोधी आचार्य भट्टनायक हुए। इन्होंने ध्वनि-मत-खण्डन के लिए 'हृदय-दर्पण' लिखा जो अभी तक अप्राप्त है। भरत के प्रसिद्ध चार प्रमुख व्याख्याताओं में इनका नाम अन्यतम है। इन्होंने शब्द में अभिधा, भावना और भोगीकृति (रस-चवर्णा या भोग) ये तीन शक्तियाँ स्वीकार कर भोगीकृति को काव्यात्मा माना तथा ध्वनि को काव्यात्मा के रूप में न मानते हुए उसे स्वसवेद्य और अनिर्वचनीय ही माना। इनका समय ९३५ से ९८५ ई० तक माना जाता है।

इसी समय आचार्य कुन्तक ने भी ध्वनि-सिद्धान्त के खण्डन के लिए 'वक्रोक्तिजीवित' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा। इसमें कारिकाएँ, वृत्ति और विभिन्न कवियो के लगभग ५०० उद्धरण हैं। इसमें सन्देह नही कि आचार्य कुन्तक की कृति मौलिकता और उच्च कोटि की साहित्यिक अभिरुचि की परिचायिका है। आचार्य भट्टतौत की तरह ये भी उत्तम काव्य का मूल स्रोत कवि की अपनी प्रतिभा को ही मानते हैं। इनके मत में वक्रोक्ति (=विचित्र अभिधा=प्रसिद्ध कथन की अपेक्षा विलक्षणता लानेवाली जो विचित्रता है वही वक्रता है—"वक्रत्व प्रसिद्धाभिधान-व्यतिरेकि वैचित्र्यम्।" अथवा सरल शब्दो में कहें तो कवि के चातुर्य या विदग्धता से चमत्कार पैदा करनेवाली वाणी वक्रोक्ति है) ही काव्य में जीवन सञ्चार करने के कारण काव्यात्मा है। वक्रोक्ति के बिना काव्यत्व की सत्ता असम्भव है। परन्तु जब तक कवि में कल्पनामयी प्रतिभा न होगी, वक्रता नहीं आ सकती। अत 'कविव्यापार' पर बहुत जोर दिया है।

कुन्तक ध्वनि या व्यग्य की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नहीं करते, वे इन्हें भी वक्रोक्ति की सर्वव्यापिनी सीमा में बिठाना चाहते हैं। इनका काल ९२५ ई० से १००० ई० तक कहा जा सकता है।

सोने में सुगन्धि की कल्पना सभी किया करते है, परन्तु इसका

सच्चे अर्थों में साक्षात् दर्शन अभिनवगुप्तपादाचार्य के चरित्र में ही होता है। भारतीय आदर्शवादी दृष्टिकोण से सच्चे कवि और समालोचक के आदर्श स्वरूप का दर्शन भारत की इस महान् विभूति में पाया जाता है। वे न केवल उच्च कोटि के प्रतिभासम्पन्न कवि ही थे अपितु साहित्य-शास्त्र के मर्मज्ञ आचार्य और प्रखर बुद्धि के दार्शनिक भी थे। उनके तपे हुए उज्ज्वल चरित्र की सुगन्धि अन्तर्वेद ने काश्मीर तक सम्पूर्ण आर्यावर्त में व्याप्त थी। दार्शनिक दृष्टि, साहित्य-मर्मज्ञता, कवित्व और आस्तिक्य व तप का ऐसा एकत्र सयोग अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा पण्डितराज जगन्नाथ या फिर विश्वकवि रवीन्द्रनाथ में ही पाई जाती है। डा० काणे ने उनके सम्बन्ध में लिखा है—"Abhinavagupta is one of the most remarkable personalities of medieval India. He was a man of very acute intellect and was an encyclopaedic scholar"

अभिनवगुप्त का रचनाकाल ९८० ई० से १०२० ई० तक माना जा सकता है। इन्होंने अनेक शास्त्रों का अध्ययन अनेक गुरुओं से किया था। नाट्यशास्त्र के इनके गुरु भट्टतौत थे। ये आजन्म ब्रह्मचारी रहे। इनकी रचनाएँ तन्त्र, स्तोत्र, नाट्य और दर्शन आदि कई वर्गों में बाँटी जा सकती हैं। उन्होंने 'नाट्यशास्त्र' पर 'अभिनवभारती' और 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' नाम की विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखीं। भट्टतौत के 'काव्यकौतुक' पर भी 'विवरण' नाम्नी टीका लिखी थी।

दसवीं शती के अन्तिम चरण में राजा मुञ्ज की सभा के अन्यतम रत्न धनञ्जय ने 'दशरूपक' की रचना की। यह ग्रन्थ नाट्य से सम्बन्ध रखता है, परन्तु इसमें रस का विवेचन भी प्रसगवश मिलता है।

'ध्वनि-सिद्धान्त' का प्रत्याख्यान करनेवालों में राजानकमहिमभट्ट का 'व्यक्तिविवेक' भी प्रसिद्ध है। वे 'ध्वन्यालोक' की मान्यता के मूल में

ही आक्षेप करते हुए व्यञ्जना शक्ति का निषेध करते है। उनके मत में शब्द की एक ही शक्ति—अभिधा—है। प्रतीयमान अर्थ अनुमान की क्रिया द्वारा उपलब्ध होता है। अत शब्द और अर्थ व्यञ्जक नही हो सकते। इनका काल १०२० से लेकर ११०० ई० तक माना जा सकता है।

ग्यार वी शताब्दी (१००५ ई० से १०५४ ई० तक) में महान् विद्या-व्यसनी भोजराज हुए, जिन्होने मध्यकालीन प्रचलित सभी विद्याओ पर ८४ ग्रन्थ रचे। सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'शृङ्गारप्रकाश' नामक दो वृहद् ग्र थ काव्यशास्त्र मे सम्बन्धित है। ये स्वय तो काव्यमर्मज्ञ थे ही परन्तु कवियो के आश्रयदाता भी थे। 'शृङ्गारप्रकाश' में इन्होने केवल शृ गार को ही रस माना है—"शृङ्गारमेकमेव शृङ्गारप्रकाशे रसमुररी-चकार"। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' भारी सग्रह-ग्रन्थ है। भोजराज की प्रशस्ति में यह कथन वडे महत्त्व का है—

> साधित, विहित, दत्त, ज्ञात तद् यन्न केनचित।
> किमन्यत्कविराजस्य श्रीभोजस्य प्रशस्यते॥

ध्वन्यालोक' और 'वक्रोक्तिजीवित' दोनो में 'औचित्य' की चर्चा है—

> अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
> प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥—ध्वन्यालोक

इसी वात को लेकर क्षेमन्द्र ने "औचित्यविचारचर्चा" नामक ग्रन्थ रच डाला। इसमे कारिकाएँ, वृत्ति और उदाहरण है। इनके मत में 'औचित्य' ही रस का आधारभूत है—"औचित्यस्य चमत्कारकारिण-श्चारुचर्वणे। रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।" क्षेमेन्द्र ने 'कवि-कण्ठाभरण' आदि और भी ग्रन्थ रचे, परन्तु अलङ्कारशास्त्र मे इनका कोई महत्त्व विशेष हो, यह वात नही। इनका समय ९९० ई० से १०६६ ई० तक है।

ग्यारहवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे ही सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "काव्यप्रकाश"

के कर्ता मम्मटाचार्य हुए। इनके ग्रन्थ की महत्ता इस बात में है कि शताब्दियो से होनेवाली काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी साधना के सार को १४३ कारिकाओ मे ऐसे व्यवस्थित ढग से रख दिया कि सब कुछ पुराना होते हुए भी सर्वथा नवीन हो गया। डा० काणे के शब्दो में 'काव्यप्रकाश' साहित्यशास्त्र में 'शारीरकभाष्य' और 'महाभाष्य' की तरह नवीन प्रेरणाओ का स्रोत बन गया है। मम्मट ने अपनी अर्थगर्भित शैली में नाट्य-विषय को छोडकर सम्पूर्ण साहित्यशास्त्र के प्रतिपाद्य को समेट लिया है। यह ग्रन्थ अपनी सर्वग्राहिता के कारण भारतभर में लोकप्रिय हो गया और भगवद्गीता के बाद सर्वाधिक टीकाएँ इसी पर उपलब्ध है। माहेश्वर ने 'भावार्थचिन्तामणि' में कहा है—

"काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे टीका तथाप्येष तथैव दुर्गम ॥"

मम्मटभट्ट काश्मीरी ब्राह्मण मालूम पडते है। कुछ लोगो का यह कहना है कि 'काव्यप्रकाश' की कारिकाएँ भरत की है, मम्मट केवल वृत्तिकार है। परन्तु यह मत प्रामाणिक नही है।

रुय्यक का 'अलकारसर्वस्व' अलकार-विषयक प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसकी रचना ११३५ से ११५० तक मानी जाती है। रुय्यक ध्वनि-सिद्धान्त के प्रबल समर्थको में से है। जयरथ ने इस पर 'विमर्शिनी' टीका लिखी है। जयरथ १३वी शती के प्रथम चरण में रहा होगा। रुय्यक ने इसके अतिरिक्त 'काव्यप्रकाशसकेत', 'नाटकमीमासा', 'साहित्य-मीमासा', 'व्यक्तिविवेकविचार' 'सहृदयलीला' आदि अनेक ग्रन्थ लिखे। इस सबसे यह मालूम पडता है कि इनके समय में काव्यशास्त्र का अध्ययनाध्यापन काफी बढ गया था। बारहवी शताब्दी मे ही वाग्भट प्रथम, हेमचन्द्र, जयदेव और विद्याधर आदि विद्वानो ने क्रमश 'वाग्भटालकार', 'काव्यानुशासन', 'चन्द्रालोक' और 'एकावली' आदि सग्रह-ग्रन्थ लिखे। वाग्भट जैन विद्वान् थे और कही पर राजकीय मन्त्री थे।

चौदहवी शताब्दी में 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' और 'काव्यानुशासन'

के कर्त्ता क्रमश विद्यानाथ और वाग्भट द्वितीय हुए। इन कृतियों को देखने से ज्ञात होता है कि हिन्दी-साहित्य की रीतिकालीन राजाओ के यशोगानवाली परिपाटी इस समय शुरू हो चुकी थी और कवि लोग 'किसी भोज' की तलाश में घूमते नज़र आने लगे होगे। परन्तु इसी शताब्दी में (१३०० ई० से १३८४ तक) 'साहित्यदर्पण' के प्रख्यात कर्त्ता विश्वनाथ हुए, जिन्होंने एक ही ग्रन्थ में नाट्यशास्त्र तक को समेट लिया। विश्वनाथ उडिया ब्राह्मण थे और सस्कृत के सिवाय प्राकृत के भी विद्वान् थे। यद्यपि इनका ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' सग्रह-ग्रन्थ ही है फिर भी उसका अपना महत्त्व है। आनन्दवर्धन, मम्मट और जगन्नाथ के ही समान विश्वनाथ का भी स्थान काव्यशास्त्र के इतिहास मे महत्त्वपूर्ण है।

पन्द्रहवी शताब्दी में भानुदत्त ने 'रसमञ्जरी' और 'रसतरङ्गिणी' नामक दो ग्रन्थ प्रस्तुत किये। परन्तु इनका महत्व विशेष नही है। हाँ, रूपगोस्वामिन् के 'भक्तिरसामृतसिन्धु' और 'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थो का महत्त्व इसलिए है कि इन्होने चैतन्य की भक्ति-धारा से प्रभावित होकर भक्ति-रस को इस सिद्धान्त के अन्तर्गत महत्त्व दिलाने के लिए इनकी रचना नवीन शैली से की। रूपगोस्वामिन् का समय १४७० से १५५४ तक माना जा सकता है। रूपगोस्वामिन् की पद्धति न तो सस्कृत में और ना ही हिन्दी के भक्ति-काव्य में प्रतिष्ठित हो सकी।

सोलहवी शताब्दी में केशवमिश्र ने 'अलङ्कारशेखर' और अप्पय-दीक्षित ने 'वृत्तिवार्तिक', कुवलयानन्द' और 'चित्रमीमासा' नामक काव्यशास्त्र से सम्बन्धित तीन ग्रन्थ लिखे। अप्पयदीक्षित का समय १५५४ से १६२६ ई० माना जाता है। ये धुरन्धर विद्वान् थे और इन्होंने शताधिक ग्रन्थो की रचना की है। ये तामिल ब्राह्मण थे। इनका 'चित्रमीमासा' आलोचनात्मक एव गम्भीर शैली का ग्रन्थ है।

सस्कृत-साहित्यमहोदधि में अपने चिन्तन के सार की सरिता को उँडेलने वाले धुरन्धर विद्वानो की महान् शृङ्खला की महान् अन्तिम

के कर्त्ता मम्मटाचार्य हुए। इनके ग्रन्थ की महत्ता इस बात में है कि शताब्दियों से होनेवाली काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी साधना के सार को १४३ कारिकाओं में ऐसे व्यवस्थित ढंग से रख दिया कि सब कुछ पुराना होते हुए भी सर्वथा नवीन हो गया। डा० काणे के शब्दों में 'काव्यप्रकाश' साहित्यशास्त्र में 'शारीरकभाष्य' और 'महाभाष्य' की तरह नवीन प्रेरणाओं का स्रोत बन गया है। मम्मट ने अपनी अर्थगर्भित शैली में नाट्य-विषय को छोड़कर सम्पूर्ण साहित्यशास्त्र के प्रतिपाद्य को समेट लिया है। यह ग्रन्थ अपनी सर्वग्राहिता के कारण भारतभर में लोकप्रिय हो गया और भगवद्गीता के बाद सर्वाधिक टीकाएँ इसी पर उपलब्ध हैं। माहेश्वर ने 'भावार्थचिन्तामणि' में कहा है—

"काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे टीका तथाप्येष तथैव दुर्गमः ॥"

मम्मटभट्ट काश्मीरी ब्राह्मण मालूम पड़ते हैं। कुछ लोगों का यह कहना है कि 'काव्यप्रकाश' की कारिकाएँ भरत की हैं, मम्मट केवल वृत्तिकार हैं। परन्तु यह मत प्रामाणिक नहीं है।

रुय्यक का 'अलंकारसर्वस्व' अलंकार-विषयक प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसकी रचना ११३५ से ११५० तक मानी जाती है। रुय्यक ध्वनि-सिद्धान्त के प्रबल समर्थकों में से हैं। जयरथ ने इस पर 'विमर्शिनी' टीका लिखी है। जयरथ १३वीं शती के प्रथम चरण में रहा होगा। रुय्यक ने इसके अतिरिक्त 'काव्यप्रकाशसंकेत', 'नाटकमीमांसा', 'साहित्य-मीमांसा', 'व्यक्तिविवेकविचार' 'सहृदयलीला' आदि अनेक ग्रन्थ लिखे। इन सबसे यह मालूम पड़ता है कि इनके समय में काव्यशास्त्र का अध्य-यनाध्यापन काफी बढ़ गया था। बारहवीं शताब्दी में ही वाग्भट प्रथम, हेमचन्द्र, जयदेव और विद्याधर आदि विद्वानों ने क्रमशः 'वाग्भटालंकार', 'काव्यानुशासन', 'चन्द्रालोक' और 'एकावली' आदि संग्रह-ग्रन्थ लिखे। वाग्भट जैन विद्वान् थे और कहीं पर राजकीय मन्त्री थे।

चौदहवीं शताब्दी में 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' और 'काव्यानुशासन'

के कर्त्ता क्रमश विद्यानाथ और वाग्भट द्वितीय हुए। इन कृतियो को देखने से ज्ञात होता है कि हिन्दी-साहित्य की रीतिकालीन राजाओ के यशोगानवाली परिपाटी इस समय शुरू हो चुकी थी और कवि लोग 'किसी भोज' की तलाश में घूमते नजर आने लगे होगे। परन्तु इसी शताब्दी में (१३०० ई० से १३८४ तक) 'साहित्यदर्पण' के प्रख्यात कर्त्ता विश्वनाथ हुए, जिन्होंने एक ही ग्रन्थ में नाट्यशास्त्र तक को समेट लिया। विश्वनाथ उडिया ब्राह्मण थे और संस्कृत के सिवाय प्राकृत के भी विद्वान् थे। यद्यपि इनका ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' सग्रह-ग्रन्थ ही है फिर भी उसका अपना महत्त्व है। आनन्दवर्धन, मम्मट और जगन्नाथ के ही समान विश्वनाथ का भी स्थान काव्यशास्त्र के इतिहास मे महत्त्वपूर्ण है।

पन्द्रहवी शताब्दी में भानुदत्त ने 'रसमञ्जरी' और 'रसतरङ्गिणी' नामक दो ग्रन्थ प्रस्तुत किये। परन्तु इनका महत्व विशेष नही है। हाँ, रूपगोस्वामिन् के 'भक्तिरसामृतसिन्धु' और 'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थो का महत्त्व इसलिए है कि इन्होने चैतन्य की भक्ति-धारा से प्रभावित होकर भक्ति-रस को इस सिद्धान्त के अन्तर्गत महत्त्व दिलाने के लिए इनकी रचना नवीन शैली से की। रूपगोस्वामिन् का समय १४७० से १५५४ तक माना जा सकता है। रूपगोस्वामिन् की पद्धति न तो संस्कृत में और ना ही हिन्दी के भक्ति-काव्य में प्रतिष्ठित हो सकी।

सोलहवी शताब्दी में केशवमिश्र ने 'अलङ्कारशेखर' और अप्पय-दीक्षित ने 'वृत्तिवार्तिक', कुवलयानन्द' और 'चित्रमीमासा' नामक काव्यशास्त्र से सम्बन्धित तीन ग्रन्थ लिखे। अप्पयदीक्षित का समय १५५४ से १६२६ ई० माना जाता है। ये धुरन्धर विद्वान् थे और इन्होंने शताधिक ग्रन्थों की रचना की है। ये तामिल ब्राह्मण थे। इनका 'चित्रमीमासा' आलोचनात्मक एव गम्भीर शैली का ग्रन्थ है।

संस्कृत-साहित्यमहोदधि मे अपने चिंतन के सार की सरिता को उँडेलने वाले धुरन्धर विद्वानों की महान् शृङ्खला की महान् अन्तिम

कडी के रूप में पण्डितराज जगन्नाथ को पाते है। हम देखते हैं कि सुदूर देशवासी यह तैलङ्ग ब्राह्मण अपनी प्रखरप्रतिभा के वल पर शाहजहाँ के वैभवशाली मुगल दरवार में देववाणी के रस को प्रवाहित कर सम्राट् को चकित कर देता है। विपरीत परिस्थितियो में भी सस्कृत भाषा के माधुर्य की ध्वजा को फहरानेवाले पण्डितराज अपने-जैसे एक ही थे। ये सच्चे अर्थों में रसिक थे और सदा आत्मसम्मान एव स्वात्माभिमान की सुरा को पिये रहते थे। 'रसगङ्गाधर' इनका प्रामाणिक ग्रन्थ है। काव्यशास्त्र में 'ध्वन्यालोक' और 'काव्यप्रकाश' के वाद इसी का नम्बर है। प्रवाहमयी सस्कृत लिखने में ये सिद्धहस्त थे। अभिनवगुप्त की तरह ये कवि और समालोचक दोनो ही थे। इनका समय १६२० से १६६० ई० तक है। स्वाभिमान के कारण इन्होंने दूसरो के उद्धरण देना पसन्द नही किया—

> निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूप
> काव्य मयात्र निहितं न परस्य किञ्चित्।
> किं सेव्यते सुमनसा मनसापि गन्ध
> कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण ॥

— — — —

रस-सम्प्रदाय

'रस' शब्द की जीवन-यात्रा दर्शनीय है। वेदो के सोमरस से चलकर आधुनिक हिन्दी के ठेठ 'रसिया' तक हजारो वर्षो में युगो की दीर्घता को तय करनेवाले इस पथिक ने अपने मनोरजक इतिहास का निर्माण किया है। इतने लम्बे समय में इसने अपने रूप और आशय को जिस प्रकार सुरक्षित रखा है वह आश्चर्य का विषय है। अनुभव और ज्ञान की गरिमा को लेकर भी प्रौढ पुरुष जिस प्रकार अपनी सम्पूर्णता की एकता का प्रतीक होता है उसी प्रकार उत्तरोत्तर सूक्ष्माशय होता गया भी रस शब्द अपने अर्थ की मूल भावनाओ का सदा प्रतिनिधि बना रहा है। रस के इतिहास को देखकर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि इसका अर्थ स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होता रहा तो भी सभी अवस्थाओ में इसके अर्थ की मूल भावनाएँ अपरिवर्तित ही रही। वे ये है—

रस शब्द की यात्रा

(क) द्रवत्व (ख) स्वाद और (ग) सार या निष्कर्ष। वैदिक सोम रस का रस शब्द जिस प्रकार द्रवत्व, स्वाद और निष्कर्ष का द्योतक है उसी प्रकार 'गन्ने के रस' में प्रयुक्त रस भी उक्त तीनो भावो का सूचक है।

व्याकरण के आधार से व्युत्पत्ति द्वारा भी उक्त भावो का स्पष्टीकरण होता है —

(क) सरते इति रस (जो बहता है)।

(ख) रस्यते आस्वाद्यते इति रस (जिसका आस्वाद लिया जाता है)।

(ग) और तीसरा भाव सोमरस एव गन्ने के रस में है ही—क्योकि दोनो किसी द्रव्य को निचोडकर प्राप्त किये गये है।

प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में 'रस' शब्द का प्रयोग प्रचुरता से हुआ मिलता है :—

(क) "रसा दधीत वृषभम्।"

(ख) "यस्य ते मद्य रसम्।"

(ग) "भरद्धेनरसवच्छिश्रिये।"

इन तीनो मन्त्र-खण्डो में रस शब्द दुग्ध (स्वादयुक्त व), सोमलता का निष्कर्ष रूप द्रव और 'मधुर-आस्वाद-युक्त' इन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

उपनिषदो में भी यह शब्द अधिकता से प्रयुक्त हुआ है —

(क) "प्राणोहि वा अङ्गाना रस" (प्राण निश्चय से अङ्गो का सार तत्त्व है।) ॥बृहदारण्यक॥

(ख) "जिह्वया हि रस विजानाति।" (जिह्वा से आस्वाद को जानता है) ॥ बृहदारण्यक॥

(ग) "न जिघ्रति न रसयते।" (न सूँघता है न आस्वाद लेता है) ॥ प्रश्नोपनिषद्॥

आगे चलकर उपनिषदो में ही 'रस' शब्द के सार और आस्वाद इन दो अर्थों के मेल से एक नवीन अर्थ—'सर्वोत्तम आस्वाद अर्थात् आनन्दात्मक अनुभव'—का प्रस्फुटन हो गया। और 'रस. सार चिदानन्दप्रकाश' इस प्रकार उसका अर्थ किया गया—

(क) "रसो वै स" (वह निश्चय से सारभूत आनन्दात्मक है) ॥ तैत्तिरीयोपनिषद्॥

(ख) "रस ह्येवाय लब्ध्वानन्दीभवति" (यह सारभूत आनन्द को ही प्राप्त करके आनन्दित होता है) ॥ तैत्तिरी०॥

(ग) "एतद्वै सत्त्वस्य रूप तस्सत्त्वमेवेरित रस । स सम्प्रास्नवत्।" (रामकृष्ण की टीका में इसका अर्थ इस प्रकार दिया गया है——'तत्परेणात्मना पूर्ववदीरित सत्त्वमेव, न तमोरजसी । तयो वक्ष्यमाणार्थाभिव्यञ्जकत्वासामर्थ्यात्। रस सार चिदानन्दप्रकाश · स सम्प्रास्नवत् सम्यक् प्राकट्येन

अस्रवत्। सत्त्वमेव चिज्ज्ञात्मनो विशेषाकाराभिव्यक्तियोग्याकारतया प्रसृतम्। सदात्माकारमेव चित्प्रसृतमित्यर्थः।',
॥ मैत्र्युपनिषद् ॥

उपनिषदों में 'रस' शब्द को उस "पूर्ण आनन्द" के आस्वाद में प्रयुक्त देखकर, जिसका योगी आत्मसाक्षात्कार के समय अनुभव करते हैं, साहित्यिक समालोचकों के लिए यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वे इस शब्द का उस कलात्मक आनन्द (A sthetic Pleasusre) के अर्थ में प्रयोग करें, जिसका शिष्ट तथा सहृदय दर्शक उस समय अनुभव करते हैं जब वे निपुण अभिनेताओं के अभिनय में प्रदर्शित, पात्र, परिस्थिति, तथा घटनाओं में आत्मविस्मृत होकर तन्मय हो जाते हैं।

काव्यशास्त्र के ऐतिहासिक पर्यालोचन से ज्ञात होता है कि उसका प्रारम्भ ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी में भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' की रचना के साथ होता है। यहीं सर्वप्रथम 'रस' शब्द का पारिभाषिक प्रयोग भी मिलता है। उन्होंने वाचिक अभिनय के प्रसङ्ग में -"विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्ति"—इस सूत्र का कथन किया है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के नाटक में ही प्रत्यक्ष होने के कारण कतिपय परवर्ती आचार्यों ने इनका क्षेत्र नाटक तक सीमित मान लिया। इस कारण अलङ्कारवादियों द्वारा परिचालित संस्कृत काव्यशास्त्र के विकास की धारा इसके सिवाय और तत्त्वों में काव्यात्मा खोजती हुई बह चली। विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने मत के अनुसार अलङ्कार, रीति, गुण और वक्रोक्ति को काव्यात्मा ठहराते हुए विवेचन किया। परन्तु रस की स्वयसिद्ध विशिष्ट सत्ता के कारण ज्यों-ज्यों ये विवेचन आगे बढ़ते गये त्यों-त्यों रस का महत्त्व स्पष्ट होता गया। इसी अवसर पर आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि-सम्प्रदाय की स्थापना करते हुए अलङ्कारवादियों की बाह्यसाधनामूलक भ्रान्तियों का अन्त कर

रस-सिद्धान्त का क्रमिक इतिहास

दिया। उन्होने ध्वनि के अन्तर्गत रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार-ध्वनि ये तीन विभाग किये, फिर भी इनमें प्रधानत्व रस को ही दिया और उसकी अव्याप्ति का भी परिहार कर दिया, जिससे स्फुट पद्यो में भी काव्यत्व प्रतिष्ठित हो सका।

इसके पश्चात् अभिनवगुप्त ने रस-सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक व्याख्यान करते हुए तद्विषयक अनेक भ्रान्तियो को स्पष्टतया सुलझाया, जिससे रस-सिद्धान्त पूर्ण प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ।

अन्ततोगत्वा ईसा की दसवी शती में आचार्य मम्मट आदि विद्वानो ने ध्वनि आदि सभी काव्य-तत्त्वो का उचित समाहार करते हुए काव्य-

काव्यशास्त्र में रस का स्थान

शास्त्र को व्यवस्थित किया एव रस को उसके स्थान पर समाविष्ट किया। उनके काव्य के लक्षण की यह विशेषता है कि अलङ्कार और गुण आदि का सम्यक् स्थान-निर्देश कर समन्वय किया गया है। देखिये—"**तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलकृति पुन क्वापि**॥" अर्थात् काव्य के शब्द और अर्थो में तो दोष तो होवे ही नहीं, गुण अवश्य हो, चाहे अलङ्कार कही-कही न भी हो। काव्य के उन्होने (१) उत्तम (ध्वनि-काव्य) (२) मध्यम और (३) अधम ये तीन भेद किये। इनके लक्षण निम्न प्रकार है —

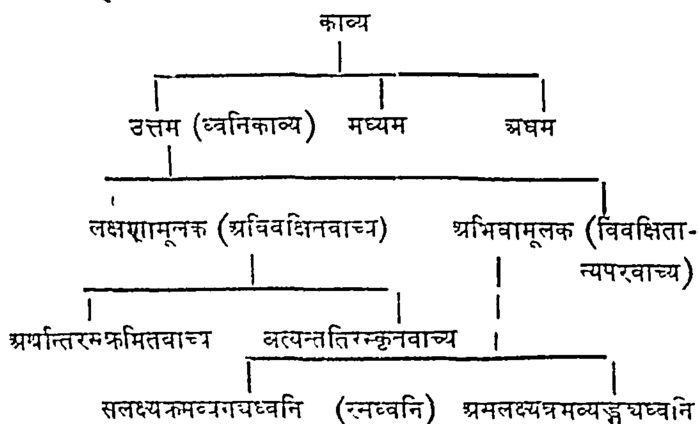
(i) उत्तम काव्य—"**इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधै. कथित**।" अर्थात् वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ के उत्कर्ष-वाला होने पर काव्य विद्वानो के द्वारा उत्तम कहा गया है।

(ii) मध्यम काव्य—"**अतादृशि गुणीभूतव्यग्य व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्**।" अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ के ऐसा न होने पर (वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ के अधिक उत्कर्षवाला न होने पर) किन्तु व्यङ्ग्यार्थ के गुणीभूत (अप्रधान रूप से) होकर प्रतीयमान होने पर, काव्य मध्यम कहा गया है।

(iii) अधम काव्य—"**शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्य त्ववर स्मृतम्**।"

अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ से रहित शब्दचित्र और वाच्यचित्र वाला काव्य अधम कहा गया है।

तत्पश्चात् उत्तम, मध्यम और अधम काव्यों के भेदों का निरूपण कर उनके स्वरूप का स्पष्टीकरण किया। उत्तम काव्य के प्रथम दो भेद किये हैं—(१) अविवक्षितवाच्य (लक्षणा-मूलक) और (२) विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूलक)। इसमें प्रथम के दो भेद (१) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और (२) अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य होते हैं। और दूसरे विवक्षितान्यपरवाच्य के (१) सलक्ष्यक्रमध्वनि और (२) असंलक्ष्यक्रमध्वनि ये भेद किये। बस यहाँ आकर उन्होंने असंलक्ष्यक्रमध्वनि के प्रसंग में रस का विस्तृत विवेचन किया है। कोष्ठक द्वारा भी उक्त भेद समझे जा सकते हैं —



उपलब्ध सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि रस-सिद्धान्त के लिए काव्यशास्त्र भरतमुनि के नाट्यशास्त्र पर ही निर्भर है। अतः

रस का निरूपण

दसवीं शती में आकर मम्मट ने इसके निरूपण के लिए भरत का वही सूत्र—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'—रखा। इसका सामान्य

अर्थ है—विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है। विभावादि क्या है, इसका स्पष्टीकरण निम्न कारिकाओ मे करते हुए रस की अभिव्यक्ति का प्रतिपादन किया :—

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च
रत्यादे. स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययो ।
विभावानुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिण
व्यक्त. स तैर्विभावाद्यै स्थायीभावो रस. स्मृत ॥

लोक में इत्यादि स्थायीभावो (ललनादि विषयक प्रीति-इत्यादि-रूप अविच्छिन्न प्रवाहवाले मानसिक व्यापारो) के जो आलम्बन (प्रीति के आश्रयभूत ललना आदि) और उद्दीपन (प्रीति के पोषक चन्द्रोदय आदि) नामक दो कारण, तथा कटाक्ष, भुजाक्षेप, आलिङ्गन आदि कायिक, वाचिक एव मानसिक कार्य, और शीघ्रता से उनकी प्रतीति करानेवाले निर्वेदादि सहकारी भाव है। वे यदि नाटक और काव्य में प्रयुक्त हो तो उन्हें क्रमश विभाव (स्वाद लेने योग्य), अनुभाव (अनुभव में लाने योग्य) और व्यभिचारी भाव (विशेष रूप से हृदय में सञ्चार कराने योग्य) कहते है। इन्ही विभावादि के सयोग होने पर व्यञ्जनावृत्ति से अभिव्यक्त स्थायीभाव रस कहाता है। विश्वनाथ ने भी इसी प्रकार स्पष्ट किया है •—

विभावेनानुभावेन व्यक्त सञ्चारिणा तथा ।
रसतामेति रत्यादि स्थायिभाव सचेतसाम् ॥ साहित्यदर्पण ॥

इसको जरा खोलकर रखने की आवश्यकता है। इस विविध ससार में मनुष्य नाना प्रकार के पदार्थो को देखता, सुनता और अनुभव करता है।

भाव अनुभाव और व्यभिचारी क्या हैं ?

इन अनुभवो के सस्कार, जिन्हे वासना भी कहते है, मन में सञ्चित होते रहते है। अनुभूति क्षणिक होने से नष्ट हो जाती है, परन्तु सस्कार जन्म-जन्मान्तर के इकट्ठे होते रहते है। अत

ये सख्यातीत हैं, इनकी गणना नही की जा सकती। फिर भी प्राचीन आचार्यों ने इनका भय, अनुराग (रति), करुणा (शोक), क्रोध, आश्चर्य, उत्साह, हास, घृणा (जुगुप्सा) और निर्वेद के रूप में वर्गीकरण करने का यत्न किया है। ये सस्कार अन्त करण के भाव भी कहे जा सकते हैं। प्रेक्षक के मन में स्थित ये ही भाव रसो के वीजभूत हैं।

इसके अतिरिक्त 'भाव' शब्द पारिभाषिक अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। इसके अनुसार देवता, गुरु, राजा आदि विषयक रति तथा प्रधान रूप से व्यञ्जित व्यभिचारी को भी भाव कहते है।

भाव

इस प्रकार भाव सज्ञा निम्न तीन की हुई—[१] उद्वुद्धमात्र (जो रसत्व को प्राप्त नही हुए ऐसे) सस्कार [२] देवादिविषयक रति या प्रेम और [३] प्राधान्येन ध्वनित होने वाले सचारी।

संचारिण. प्रधानानि देवादिविषया रति.।
उद्बुद्धमात्र. स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ॥ साहित्यदर्पण ॥

रस-परिपाक-प्रक्रिया में उद्बुद्धमात्र सस्कारो के दो भेद—[१] स्थायीभाव और [२] सचारीभाव किये गये हैं। जो सजातीय एव विजातीय भावो से विच्छिन्न न हो, अर्थात् जिनमें स्थिरता हो वे स्थायीभाव कहाते हैं। मनोवैज्ञानिको की भाषा में इन्हे मूलभाव (Sentiments) कह सकते हैं। इनके सिवाय जो भाव सामयिक रूप से वीच-वीच में सचरण कर स्थायी भावो को पुष्ट करें वे सचारीभाव हैं। विश्वनाथ ने स्थायी और सचारी भावो का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

स्थायीभाव

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमा।
आस्वादांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः॥
—साहित्यदर्पण।

अर्थात् अविरुद्ध एव विरुद्ध भाव जिसका गोपन न कर सकें और आस्वाद के अकुर का जो मूलभूत हो वह स्थायीभाव है।

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिण. ।
व्यभिचारी भाव — स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदा ॥
—साहित्यदर्पण ॥

स्थायीभाव में उन्मग्न (आविर्भूत) निर्मग्न (तिरोभूत) होकर सचरण करने वाले भाव विशेष प्रकार से अभिमुख होकर—अनुकूल होकर—चलने के कारण व्यभिचारी कहे जाते हैं। ये तैतीस हैं। अस्तु।

उपर्युक्त भावो में आस्वादन की योग्यता का अकुर विभावो के आश्रय से प्रादुर्भूत होता है। विभाव भी दो प्रकार के हैं—(१)आलम्बन, जो भावो के आलम्बन बनते हैं, जैसे नायक-नायिका आदि और (२) उद्दीपन, जो भावो को उद्दीप्त अर्थात् उत्तेजित करते है, जैसे वसन्त, उद्यान, चन्द्रोदय आदि।

भावजागृति के पश्चात् होने वाले अगविकारो को अनुभाव कहते है। अनुभावो से नायक-नायिका को एक-दूसरे के भावो को जानने में सहायता मिलती है। इनकी व्युत्पत्ति इस प्रकार कर सकते है—अनु पश्चात् भावान् भावयन्ति वोधयन्ति इति अनुभावा। विश्वनाथकृत अनुभावो का लक्षण है—

अनुभाव क्या हैं?

"य. खलु लोके सीतादिचन्द्रादिभिः स्वै: स्वैरालम्बनोद्दीपनकारणै-रामादिरन्तरुद्बुद्ध रत्यादिकं बहि प्रकाशयन्कार्यमित्युच्यते, स काव्यनाट्ययो पुनरनुभाव. ।" साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद ।

अर्थात् सीता आदि आलम्बन तथा चन्द्रादि उद्दीपन कारणो से राम आदि के हृदय में उद्बुद्ध रति आदि का बाहर प्रकाशित करने वाला लोक में रति का जो कार्य कहाता है वही काव्य और नाटक में अनुभाव है। उद्बुद्ध रति आदि के प्रकाशक कार्य निम्न हो सकते हैं—

उक्ता. स्त्रीणामलङ्कारा: अङ्गजाश्च स्वभावजा ।
तद्रूपा सात्त्विका भावास्तथा चेष्टा परा अपि ॥ सा० द० ॥

अर्थात् स्त्रियों के अगज तथा स्वभावज अलकार, सात्त्विक भाव और रति आदि से उत्पन्न अन्य चेष्टाये अनुभाव कहाती हैं। साराश यह कि आलम्वन तथा आश्रय के कार्य अनुभाव है। परन्तु यहाँ पर इतना विवेक करना अभीष्ट है कि रस को उद्दीप्त करने वाली चेष्टाएँ उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत मानी जायेगी। जैसे कटाक्ष यदि रस को उद्दीप्त करने वाला हो तो वह उद्दीपन विभाव है, अन्यथा यदि वह उद्बुद्ध रति का प्रकाशकमात्र है तो उसे अनुभाव ही समझना चाहिए। जैसा कि रसतरगिणी में कहा है—"ये रसान् अनुभावयन्ति, अनुभवगोचरतां नयन्ति तेऽनुभावा कटाक्षादय कारणत्वेन। कटाक्षादीना करणत्वेनानुभावकत्व, विषयत्वेनोपद्दीपनविभावत्वम्।"

अनुभाव अनन्त हो सकते हैं। तो भी उनका विभाजन किया गया है जो निम्न कोष्ठक मे स्पष्ट हो सकेगा–

(अगले पृष्ठ पर देखें)

अनुभाव

अनुभाव				संख्या
१ स्त्रियों के यौवन के अलंकार [२८]	१ अंगज	हाव, भाव, हेला		३
	२ अयत्नज	शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य		७
	३ स्वभावज	लीला, विलास, विच्छित्ति, बिब्बोक, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, मद, विकृत, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित, केलि		१८ (कुल २८)
२ सात्त्विक भाव	(अन्तःकरणस्य धर्मविशेषः सत्त्व॰, तस्य भावः सात्त्विक)	स्तम्भ, प्रस्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथू, अश्रु, प्रलय, वैवर्ण्य		८
३ कायिक		विभिन्न शारीरिक चेष्टाएँ		अनन्त
४ मानसिक		प्रमोद आदि मनोवृत्तियाँ		,,
५ वाचिक		उक्ति रूप में प्रकट किए गये कार्य		,,
६ आहार्य		वेश-विन्यास आदि		,,

इस प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियो के सम्मिलित रूप से नट द्वारा उपन्यस्त किये जाने पर दर्शक के मन में एक तीव्र आनन्दानुभूति का सचार होता है। यही रस या काव्यानन्द है। रस-अभिव्यक्ति का स्पष्टीकरण करने के लिए विद्वान् लोग निम्न प्रकार से उदाहरण दिया करते है —

रस-निष्पत्ति क्रम

"वेश-भूषा आदि से सुसज्जित नट-नटी दुष्यन्त और शकुन्तला का रूप धारण करके दर्शक के सामने आते है। रमणीय तपोवनकुञ्जो में दुष्यन्त और शकुन्तला का सम्मिलन होता है (दुष्यन्त और शकुन्तला परस्पर आलम्बन विभाव और तपोवन की प्रफुल्लित लताकुञ्जें आदि उद्दीपन विभाव है)। दोनो एक-दूसरे के रूप-लावण्य पर मोहित हो उत्सुक नेत्रो से रूप-रस का पान करते हैं। प्रथम दृष्टिपात के पश्चात् शकुन्तला को जब सुध होती है तो वह आरक्तमुख होकर चल देती है, परन्तु हृदय की उत्कण्ठा को न दबा सकने के कारण तिरछी नजर से दुष्यन्त को देखती जाती है। (प्रेमी-प्रेमिका का परस्पर मुग्धभाव से देखना, लज्जावश आरक्त-मुख होना आदि अनुभाव है)। आश्रम में जाकर विरहतप्ता शकुन्तला प्रिय की स्मृति से कभी चिन्तित, कभी निराश और कभी अनमनी हो उठती है और क्षणभर के लिए प्रिय-मिलन की कल्पना से आनन्दविभोर हो जाती है (आकस्मिक रूप से उठकर विलुप्त होने वाले स्मृति, चिन्ता, आशा, निराशा आदि भाव व्यभिचारी है)। ठीक समय पर काम करने वाली प्रियवदा आदि सखियो के सत्प्रयत्न से शकुन्तला और दुष्यन्त का पुनर्मिलन होता है।"— रगशाला के कलापूर्ण भव्य वातावरण मे सगीत, कविता आदि नाट्य-धर्मियो के सहयोग से जब यह सम्पूर्ण दृश्य (विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावो का सयोग) प्रेक्षक के सामने आता है तो उसके हृदय

में वासना रूप से स्थित रत्यादि स्थायीभाव उद्बुद्ध होकर उस चरम सीमा तक उद्दीप्त हो जाते हैं जिससे कि वह देश-काल की सुध-बुध भूल-कर तन्मय हो जाता है। चरमावस्था को प्राप्त उसका यह भाव उसे 'आनन्दमयी चेतना' में निमग्न कर देता है। यही 'आनन्दमयी चेतना' रस है। कोष्ठक रूप में इसे हम निम्न प्रकार से रख सकते हैं —

(अगले पृष्ठ पर देखें)

स्थायीभाव	विभाव		अनुभाव	सचारीभाव
(मूलभाव या बीज)	आलम्बन विभाव (उत्पादक कारण)	उद्दीपन विभाव (उद्दीपनकर्ता)	उद्बुद्ध रत्यादि को बाहर प्रकट करने वाले कार्य	सहकारी कारण
नायक नायिका की पारस्परिक रति आदि अर्थात् अनुराग आदि	नायक और नायिका दुष्यन्त वा शकुन्तला	रमणीय तपोवन, लता-कुञ्जें आदि आह्लादक प्रकृति	मुग्धभाव से देखना, लज्जावश आरक्त मुख होना आदि	स्मृति, चिन्ता, आशा, निराशा आदि

आद्याचार्य भरत के सूत्र के उपरिलिखित स्पष्टीकरण से यह बात निर्विवाद रूप से सामने आई कि रस आनन्दस्वरूप अर्थात् एक आनन्दमयी चेतना है। परन्तु सूत्र से यह स्पष्ट नही होता है ? कि रस की स्थिति किसमें रस की मूल-स्थिति का अन्वेषण करते हुए विभिन्न आचार्य सूत्रगत 'सयोग' और 'निष्पत्ति' इन दो शब्दो का व्याख्यान अपने अपने ढङ्ग से करते है। यदि 'सयोग' और 'निष्पत्ति' की वैज्ञानिक व्याख्या सामने आ जाय तो रस की मूल स्थिति किसमें है, और रस का स्वरूप क्या है, इन दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नो का विज्ञान-सम्मत उत्तर मिल जायेगा, क्योकि रस-परिपाक की प्रक्रिया में उक्त दोनो शब्दो की मनोवैज्ञानिक व्याख्या ही रस-सिद्धान्त को वैज्ञानिक रूप दे सकती है।

भरत मुनि का सूत्र तथा रस-प्रक्रिया

सामान्यतया देखने पर यह प्रतीत होता है कि रस की स्थिति किसमें है। इस प्रश्न का उत्तर बिल्कुल ही स्पष्ट है, और वह यह कि रसस्थिति स्पष्टतया दर्शक में है। वही रस का भोक्ता है, क्योकि दर्शक ही नाटक देखने जाता है। परन्तु सूक्ष्मता से विचार करने पर साहित्य की अत्यन्त मौलिक समस्या--"रस का मूल भोक्ता कौन है ?"—प्रश्न बनकर सामने आ जाती है। नाटक और काव्य से सम्बद्धित सिर्फ दर्शक ही नही है, अपितु कविकृत पात्र, पात्रो की भूमिका लेने वाले नट-नटी और कविकृत पात्रो के मूल पुरुष (ऐतिहासिक दुष्यन्त आदि) सभी हैं। आज का अध्येता मनोविज्ञान की 'टार्च' लेकर बडी सूक्ष्मता से रस-स्रोतो की खोज करता है और प्राचीन सस्कृत के आचार्यों ने भी एतद्विषयक बडी माथापच्ची की है।

अत अब हमारा अध्ययन दो भागो में विभक्त हो जाता है। प्रथम

तो हमें यह देखना है कि रस-परिपाक-प्रक्रिया में 'संयोग' और और 'निष्पत्ति' का क्या अर्थ है, जिससे यह स्पष्ट हो जाये कि रस की स्थिति किसमें है ? द्वितीय रस का वैज्ञानिक स्वरूप क्या है ?

प्रस्तुत प्रश्न

[१] रस-भोक्ता कौन है और रस की स्थिति किसमें है ?

भरतसूत्र की व्याख्या करते हुए रस-सिद्धान्त का स्पष्टीकरण जिन प्रमुख विद्वानों ने किया है उनमें भट्टलोल्लट सर्वप्रथम हैं। ये मीमांसक विद्वान् थे। रस की व्याख्या करते हुए इन्होंने मूल रसस्थिति ऐतिहासिक नायक-नायिका में मानकर प्रश्न को उलझा दिया। सामाजिक में रसानुभूति को गौण स्थान देना उचित नहीं प्रतीत होता। हाँ, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि इन्होंने दूसरे के आनन्द को देखकर आनन्द अनुभव करने की मान्यता की स्थापना कर मानव-सुलभ-सहानुभूति के तत्त्व को महत्त्व प्रदान किया है, तथा नट-नटी में भी रस की स्थिति को मानकर अभिनयकला की सफलता के लिए उनके तल्लीन हो जाने के मान्य सिद्धान्त की स्थापना की है। भट्टलोल्लट का मत निम्न प्रकार से है —

मीमांसकसम्मत भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद

"(विभावै) ललना उद्यानादि आलम्बन व उद्दीपन कारणों से (जनित) उत्पादित, एवं (अनुभावै) भुजाक्षेप आदि कार्यों से (प्रतीति-योग कृत) जानने योग्य किया गया और (व्यभिचारिभि) निर्वेदादि सहकारियों से (उपचित) पुष्ट किया गया (रत्यादिकोभाव) जो रत्यादि स्थायीभाव है सो, (मुख्यया वृत्त्या) वास्तविक सम्बन्ध से तो (रामादावनुकार्ये) रामादि अनुकार्यों में और (तद्रूपतानुसन्धानात् नर्त्तकेऽपि) अनुकार्य के सादृश्य का अनुसन्धान करने के कारण नट में भी (प्रतीयमान) प्रतीत होने वाला, (रसः) रस है।"

इसका विश्लेपरण करने से रस-परिपाक-प्रक्रिया का स्वरूप निम्न प्रकार से मालूम पडता है .—

१ रामादि नायक-नायिका रूप अनुकार्यों में विभाव (आलम्वन एव उद्दीपन), अनुभाव व सहकारी कारणो से स्थायीभाव क्रमश उत्पन्न, उद्दीप्त, प्रतीत और पुष्ट होता है। यही स्थायीभाव रस है। और अनुकार्यों में ही उत्पन्न होने के कारण प्रधान रूप से उन्ही में स्थित होता है।

२ जब नट-नटी रगमच पर अनुकार्यों का अनुकरण करते है तो सामाजिक नटो में भी अनुकार्यों और उनके रस का आरोप कर लेता है। इस आरोप के कारण उसे रस प्रतीत होने लगता है।

३ सामाजिक को रस की प्रतीति से ही रस (आनन्द) मिलने लगता है। अत. सामाजिक का रस प्रतीतिजन्य है।

इस पर से भट्टलोल्लट की निम्न मान्यताओ का पता चलता है —

(क) रस की स्थिति मूल ऐतिहासिक नायक-नायिका में होती है। नट द्वारा इसे रगमच पर दिखाया जाता है। अत. नट में भी रस-स्थिति गौण रूप से है जो प्रेक्षक द्वारा आरोपित है । इसके बाद प्रेक्षक में रस-स्थिति प्रतीतिजन्य होती है, अर्थात् रस की वास्तविक स्थिति तो है नायक-नायिका में, और प्रेक्षक में है सक्रमित रूप से। नट माध्यम है।

(ख) 'ऐतिहासिक नायक-नायिका' और कवि-अकित नायक-नायिका' मे वह कोई अन्तर नही मानते। वस्तुतस्तु सभी प्राचीन सस्कृत-विद्वानो की यही मान्यता रही है। उनकी वाह्यार्थनिरूपिणी दृष्टि ने कवि के व्यक्तित्व को कभी भी पूरी तरह नही आंका।

आधुनिक आलोचक कवि के व्यवितत्व को महत्त्व देते हुए कवि की कृति को कवि की अनुभूति का मूत रूप मानते है। काव्य में जिन नायक-नायिकाओ का चित्रण किया जाता है वे ऐतिहासिक चरित्रो के प्रतिरूप

समझे जा सकते हैं। 'शाकुन्तलम्' में जो दुष्यन्त और शकुन्तला क्रीडा कर रहे हैं वे कालिदास की मानस-सन्तति है और मूल राजा दुष्यन्त और तापस-वन-विहारिणी शकुन्तला से भिन्न है। भट्टलोल्लट की सबसे बड़ी भ्रान्ति यही है कि वह उन्हें एक ही समझने के कारण ऐतिहासिक मूल नायक-नायिका में उत्पन्न रस को काव्य-अंकित नायक-नायिका में भी समझ लेता है। जब कवि-अङ्कित पात्र ऐतिहासिको से भिन्न हैं तो काव्य में रस की स्थिति सम्भव ही नही बन पड़ती।

इसके अतिरिक्त लोल्लट की मान्यता में एक भारी कमी और भी है। यदि रस की स्थिति प्रधान रूप से लोक में चलते-फिरते मूल नायक-नायिकाओ में ही है तो कविकल्पना-जन्य पात्रो वाले काव्यो-नाटको में भी रस सम्भव नही हो सकता।

कुछ लोग भट्टलोल्लट के मत पर यह भी आक्षेप कर सकते हैं कि नायका-नायिका को रसानुभव करते देख प्रेक्षक को आनन्दाभूति कैसे हो सकेगी ? यदि शृगार का प्रसग हुआ तो क्या लज्जा का अनुभव नही होगा ? परन्तु आधुनिक मनोवैज्ञानिक इस शका का समाधान यह कहकर कर देते हैं कि मानव-सुलभ सहानुभूति के द्वारा दूसरे के आनन्द को देखकर आनन्दानुभूति सम्भव हो जाती है।

एक प्रमुख आपत्ति यह भी उठाई जाती है कि रस 'कार्य' कैसे हो सकता है ? अर्थात् विभावादि कारणो का कार्य 'रस' नही कहा जा सकता। क्योंकि हम देखते है कि कारण के विनष्ट हो जाने पर भी कार्य रहता है ; पर यहाँ ऐसा नही होता । यहाँ तो रस तभी तक रहता है जब तक विभावादि कारण रहते हैं। अत. विभावादि और रस में कार्य-कारण सम्बन्ध नही माना जा सकता।

लोल्लट के बाद उक्त सूत्र के व्याख्याता श्री शकुक का मत रखा जाता है। ये नैयायिक थे। इन्होने लोल्लट के मत पर यह आक्षेप कर

कि नायक के आनन्द को देखकर प्रेक्षक को आनन्दानुभूति नही हो सकती, वास्तव में मनोविज्ञान-सिद्ध सहानुभूति के तत्त्व का निषेध कर दिया। प्रेक्षक रस को अनुमान द्वारा प्राप्त करता है, इनकी यह बात भी लोगो को बहुत कम जँची। अत इनके मत ने रस-सिद्धान्त की गुत्थी को सुलझाने में विशेष योग नही दिया। इन्होने अपने मत को भारी शब्दाडम्बर के साथ रखा —

नैयायिकसम्मत शकुक का अनुमितिवाद

"दर्शक को नट में जो "यह राम है" (रामोऽयमिति) ऐसी प्रतीति होती है वह "राम ही यह है" "यही राम है" (राम एवाऽयम्, अयमेव राम)ऐसे सम्यक् ज्ञान से, (उत्तरकालिके बाधे) पीछे से बाधित होने वाले (न रामोऽयमिति) "यह राम नही है" इस मिथ्या ज्ञान से, (राम स्याद्वा न वाऽयमिति) "यह राम है अथवा नही है" इस सशय-ज्ञान से और (रामसदृशोऽयमिति) "यह राम के समान है" इस सदृशज्ञान से (विलक्षण) विलक्षण है।

दर्शक द्वारा (नटे) नट में (चित्रतुरगादिन्यायेन) "चित्रलिखित घोडे में घोडे का ज्ञान होता है" इस न्याय से (रामोऽयमिति) "यह राम है" इस (प्रतिपत्त्या) ज्ञान के (ग्राह्ये) ग्रहण किये जा चुकने पर, नट "सेय ममागेषु" तथा "दैवादहमद्य" इत्यादि श्लोको का पाठ करता है।

नट (इत्यादि काव्यानुसन्धानबलात्) उक्त काव्यसम्बन्धी अर्थो की प्रतीति के बल से तथा (शिक्षाभ्यासनिर्वर्तित) अभिनय के शिक्षण एवं अभ्यास के ज़ोर से सम्पादित (-स्वकार्यप्रकटनेन च—, अपने कार्य को अच्छी तरह से प्रकाशित करके दिखाता है।

उस (नटेनैव) नट के द्वारा (प्रकाशितै) प्रस्तुत किये गये (कारण-कार्यसहकारिभि) कारण, कार्य और सहकारी भाव, जो (विभावादि-शब्दव्यपदेश्यै) नाट्यशास्त्र में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी इन शब्दो से निर्दिष्ट है, (कृत्रिमैरपि) बनावटी होने पर भी (तथानभिमन्य-मानै —) वैसे अर्थात् मिथ्या भासित नहीं होते।

इन्हीं विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियो के (सयोगात्) सयोग मे रस (गम्यगमकभावरूपात्) ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव रूप से (अनुमीयमानोऽपि) अनुमित होता है और (वस्तुसौन्दर्यबलात्) सम्पूर्ण वातावरण रूप वस्तु के सौन्दर्य के बल से (रसनीयत्वेन—) समास्वादनयोग्य होता है।

रस (अन्यानुमीयमान) सामाजिको मे अनुमीयमान होता हुआ भी (विलक्षण) अनुमान से भिन्न होकर (स्थायित्वेन सभाव्यमान) स्थायी रूप से चित्त में अभिनिविष्ट विधा हुआ--होता है।

ये जो (रत्यादिर्भाव) रत्यादि स्थायीभाव हैं वे (तत्रासन्नपि) नट में न होने पर भी (सामाजिकाना) दर्शको की (वासनया) वासना द्वारा (चर्व्यमाण) चर्वित होते हैं, आस्वादित होते हैं——यही भाव रस है।"

इनकी रस-परिपाक-प्रक्रिया निम्न प्रकार समझी जा सकती है —

(i) रामादि नायक-नायिका में स्थायीभाव होता है।

(ii) कारण, कार्य और सहयोगी कारणो के सयोग से वह स्थायीभाव (या मूलभाव) उन्हीं के द्वारा अनुभव किया जाता है।

(iii) इस सम्पूर्ण अवस्था का नट-नटी अभिनय करते हैं. अर्थात उनके कार्यों और भावो दोनो का अनुकरण करते है।

(iv) चित्र-तुरग-न्याय से दर्शक यह समझ लेता है कि मूलभाव के अनुभव किये जाने की अवस्था मेरे सामने मूल रूप से ही घटित हो रही है (जैसे कोहरे से आवृत्त प्रदेश को कोई व्यक्ति धूमावृत समझ लेता है)।

(v) इस अवस्था में प्रेक्षक नायक-नायिका के मूलभाव (स्थायीभाव-रत्यादि या रस) का भी अनुमान कर लेता है (जैसे दर्शक द्वारा कुहराछन्न प्रदेश को धूमावृत समझ लिये जाने पर वह वहाँ उसके सहचारी अग्नि का भी अनुमान कर लेता है)। यह अनुमित स्थायीभाव ही रस है जो अपने सौन्दर्य के बल से स्वाद का आनन्द

देता है और चमत्कृत करता है। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यह अनुमित स्थायीभाव वास्तविक मूलभाव (नायकादि के रतिभाव) से भिन्न न होकर उसका अनुकृत रूप है। इस पर से इनकी निम्न मान्यताओं की सिद्धि सम्भव है :—

(क) प्राचीनो की तरह इन्होंने भी ऐतिहासिक नायक-नायिकाओं में और कवि-निबद्ध नायक-नायिकाओ मे कोई अन्तर नही माना।

(ख) रस की स्थिति भी, लोल्लट की तरह, ये ऐतिहासिक नायक-नायिकाओं में ही मानते है। नट-नटी द्वारा प्रस्तुत सम्पूर्ण वस्तु को प्रेक्षक असली ही मान लेता है। फिर उसमें मूलभाव का अनुमान कर लेता है। अर्थात् रस का मूल भोक्ता ऐतिहासिक पुरुष है, प्रक्षक का रस अनुमित है और नट-नटी माध्यम रूप से है। फलत निष्पत्ति का अर्थ हुआ अनुमिति।

(ग) और भरत स्थायीभाव और रस में कोई अन्तर नही मानते—ऐसा इनका विचार है।

शकुक की प्रथम दो मान्यतायें वही हैं जो लोल्लट की थी। अत तद्विषयक पूर्वकथित दोष यहाँ भी ज्यो के त्यो है। अनुमिति का सिद्धान्त भी विज्ञानसम्मत नही। यदि प्रेक्षक अनुमान द्वारा रस का ग्रहण कर लेता है तो उसे रस-विषयक ज्ञान ही हो सकता है, रसानुभूति नही हो सकेगी, क्योकि अनुमान स्पष्टतया बुद्धि की क्रिया है।

इसके अतिरिक्त शकुक की यह मान्यता कि अनुकार्यों की अनुकृत दशा से स्थायीभाव का अनुमान प्रेक्षक कर लेंता है, भी निराधार है, क्योकि अनुमित पदार्थ से कार्यसिद्धि नही होती। कोहरे को धूम समझकर उसके सहचारी अग्नि का यदि अनुमान कर भी लें तो क्या ठण्ड दूर हो सकेगी? अत अनुमित स्थायीभाव दर्शको को आनन्दानुभूति नही करा सकता।

भरतसूत्र के तृतीय व्याख्याता भट्टनायक हैं। रस-सिद्धान्त के प्रतिपादको में इनका स्थान बहुत ऊँचा है। ये मौलिक प्रतिभा के विद्वान थे। रस की स्थिति को इन्होंने विषयगत न मानकर विषयीगत माना। इनका यह क़दम लोल्लट और शकुक की अपेक्षा अत्यन्त क्रान्तिकारी था, क्योकि वे रसस्थिति को मूल नायक-नायिकाओ मे ही मानते चले आ रहे थे और वहाँ से प्रेक्षक के हृदय में सिद्ध करने के लिए विविध कल्पनाजालो में उलझे पडे थे। भट्टनायक ने सर्वप्रथम प्रेक्षक में रसस्थिति मानकर उस पचडे का सफाया कर दिया। इसके अतिरिक्त 'साधारणीकरण' के असाधारण सिद्धान्त की उद्भावना कर रस-सिद्धान्त की वैज्ञानिक आधारशिला स्थापित कर दी।

साख्यवादी भट्टनायक का भुक्तिवाद

लोल्लट (मीमासक) और शकुक (नैयायिक) की इस मान्यता पर कि नायक-नायिका के स्थायीभाव के साक्षात्कार से प्रेक्षक के हृदय में रस उत्पन्न या अनुमित होता है, भट्टनायक ने आपत्ति उठाई। उन्होने कहा कि नायक के जिस प्रकार के भाव का साक्षात्कार प्रेक्षक करेगा, वैसा ही भाव उसके हृदय में भी उठ सकता है। दु खद प्रसग के प्राप्त होने पर नायक की तरह प्रेक्षक को भी दु ख ही होना चाहिए। अर्थात् शोक मे शोक की ही उत्पत्ति होगी। पर ऐसा होता नही। प्रेक्षक दु खद प्रसग में भी आनन्दानुभूति करता है। अत उक्त मत स्वीकार्य नही हो सकता।

इसी प्रकार ध्वनिकार के मत पर भी उन्होंने शका उठाई। ध्वनिवादियों ने कहा कि प्रेक्षक के हृदय में सस्कार-रूप से स्थित स्थायीभाव विभावादि के सयोग से अभिव्यक्त हो जाते हैं। भट्टनायक ने कहा कि इस अवस्था में आलम्बन (सीतादि) के प्रति जो नायक (रामादि) के भाव है वही प्रेक्षक में भी कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? प्रेक्षक तो सीता को जगन्माता मानता है। राम-सीता का अभिनय

देखकर सीता के प्रति जगन्माता की हीं भावना हो सकती है, स्त्री की नही। और फिर रति-शोकादि साधारण भावो की अभिव्यक्ति मान भी ली जाय, पर हनुमान एव भीमादि के समुद्रलघन जैसे अद्‌भुत पराक्रम-पूर्ण कार्यों को देखकर अल्पायतन प्रेक्षक में उन-जैसे वीर भावो की अभिव्यक्ति कैसे सम्भव हो सकती है ?

अतएव इन्होंने उक्त मतो का निरसन करते हुए अपने मत को इस प्रकार रखा —

"(न ताटस्थ्येन) न तो तटस्थ—[उदासीन नट व रामादि नायक में]—और (नात्मगतत्वेन) न आत्मगत—[प्रेक्षकगत रूप में]—रूप से (रस प्रतीयते) रस की प्रतीत होती है, (नोत्पद्यते) न उनकी उत्पत्ति होती है, (नाभिव्यज्यते) और न उसकी अभिव्यक्ति [व्यञ्ज-कता द्वारा सिद्धि] होती है। (अपितु) किन्तु (काव्ये नाट्ये च) काव्यो और नाटको में (अभिधातो द्वितीयेन)अभिधालक्षणा से भिन्न किसी अन्य (विभावादिसाधारणीकरणात्मना) विभावादि का साधारणीकरण करने वाले (भावकत्वव्यापारेण) भावकत्व नामक व्यापार के द्वारा (भाव्यमान स्थायी) असाधारण से साधारण किया गया जो स्थायी-भाव है वह, (सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमय) सत्त्वगुण के प्रवाह के वेग से आनन्दस्वरूप तथा (सविद्‌विश्रान्तिसत्त्वेन) अन्य ज्ञानो को तिरोहित कर देने वाले—[अर्थात् विक्षेपरहित मन स्थिति वाले]—(भोगेन) भोजकत्व नामक तृतीय व्यापार द्वारा (भुज्यते) उपभुक्त होता है—आस्वादित होता है। यह आस्वादन ही रसनिष्पत्ति है।"

इनकी रस-परिपाक-प्रक्रिया का स्वरूप निम्न प्रकार से हो सकता है —

(i) रामादि (नायक-नायिका) में स्थायीभाव रत्यादि होता है।
(ii) कारण-कार्य और सहकारियो के सयोग से वह स्थायीभाव रामादि में उद्‌बुद्ध होकर उन्हें परितृप्ति प्रदान करता है।

(iii) यह सम्पूर्ण अवस्था नट के अभिनय द्वारा या—श्रव्य काव्य हुआ तो—काव्यानुशीलन द्वारा दर्शक के सामने आती है। तब उसे काव्यगत तीन शक्तियों—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व—में से प्रथम अभिधा के बल से काव्यार्थ की अभिज्ञता होती है।

(iv) इसके अनन्तर दर्शक उस अर्थज्ञान का काव्यगत द्वितीय शक्ति—भावकत्व-के द्वारा भावन करता है। भावन का तात्पर्य है निर्विशेष रूप से चिन्तन, जिससे राम-सीता और उनकी पारस्परिक रति निर्विशेष रूप में रह जाती है। अर्थात् उनकी रति पुरुषमात्र की, स्त्रीमात्र के प्रति सहज स्वाभाविक रति के रूप में हो जाती है। इस प्रक्रिया को साधारणीकरण कहते हैं।

(v) नायक-नायिका की रति एवं विभावादि के साधारणीकरण हो जाने पर दर्शक में रजोगुण व तमोगुण का स्वतः लोप होकर सत्त्वगुण का आविर्भाव होता है। इस अवस्था में काव्य की तीसरी शक्ति भोजकत्व कार्य करती है। उसके द्वारा साधारणीकृत भाव व विभावादि के प्रेक्षक अपने स्थायीभावों का उपभोग करता है। रत्यादि का उपभोग या आस्वादन ही रसनिष्पत्ति है।

निष्कर्ष रूप से इनकी निम्न मान्यताएँ सामने रखी जा सकती हैं—

[क] रस की स्थिति ये सीधी सहृदय में मानते हैं।

[ख] काव्य में तीन शक्तियाँ स्वाभाविक हैं—(१) अभिधा (जिसके द्वारा अर्थग्रहण होता है), (२) भावकत्व जिसके द्वारा काव्यार्थ का निर्विशेष रूप से चिन्तन होता है), (३) भोजकत्व (जिसके द्वारा आनन्द की अनुभूति होती है)।

[ग] इन्होने भावकत्व की शक्ति का प्रतिपादन करते हुए "साधारणीकरण" का उद्भावन किया।

[घ] काव्यानन्द की उद्रेकावस्था में तमोगुण और रजोगुण सर्वथा विलुप्त हो जाते है। केवल सत्त्व गुण का प्राधान्य हो जाता है। इसी अवस्था में रस का उपभोग होता है। अत निष्पत्ति का अर्थ है भुक्ति।

साधारणीकरण

भट्टनायक साधारणीकरण के सिद्धान्त के आविष्कारक है। उन्होने अपने मत के प्रतिपादन के प्रसग में काव्यगत द्वितीय शक्ति 'भावकत्व' की इस प्रकार व्याख्या की है। 'अभिधा' द्वारा काव्य के शब्दार्थ (भाव) के ग्रहण होने पर भावकत्व द्वारा इस अर्थ का (भाव का) भावन होता है, अर्थात् भाव की वैयक्तिकता विनष्ट हो जाती है। भाव विशिष्ट न रहकर निर्विशेष (साधारण) रह जाता है—यही भावन की प्रक्रिया साधारणीकरण है। उदाहरणार्थ काव्यद्वारा उपन्यस्त राम का सीता के प्रति रतिभाव भावन की प्रक्रिया द्वारा पुरुष का स्त्री के प्रति सहज साधारण रतिभाव ही रह जाता है, यदि ऐसा न हो तो सीतादि में पूज्यबुद्धि के कारण सामाजिक को रसानुभूति न होवे।

भट्टनायक की साधारणीकरण-प्रक्रिया

साधारणीकरण के इस सिद्धान्त को अभिनवगुप्त ने भी इसी रूप में स्वीकार कर लिया। परन्तु 'भावकत्व' शक्ति को अनावश्यक ठहराते हुए व्यञ्जनावृत्ति से ही इसे सम्भव माना।

भट्टनायक की व्याख्या का तात्पर्य यह है। काव्य द्वारा उपन्यस्त आश्रय की रति (स्थायीभावादि) सभी का साधारणीकरण होता है। साधारणीकृत रूप वाले विभावादि के सयोग से ही सामाजिक की रति भुक्त (भट्टनायक) या अभिव्यक्त (अभिनवगुप्त) होती है। केवल

आलम्बन का साधारणीकरण, जैसा कि आचार्य शुक्ल ने माना है, नहीं होता। भट्टनायक का मत 'काव्यप्रकाश' की टीका 'काव्यप्रदीप' में इस प्रकार दिया गया है —

"भावकत्वं साधारणीकरम्। तेन हि व्यापारेण विभावादय. स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादि विशेषाणा कामि नीत्वादिसामान्येनोपस्थित । स्थाय्यनुभावादीनां च सम्बन्ध-विशेषानवच्छिन्नत्वेन।"

आचार्य शुक्ल जी ने "साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद" नामक निबन्ध में साधारणीकरण के विषय में लिखा है—"जब तक

आचार्य शुक्ल का मन्तव्य

किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यत सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। (विषय का) इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है।" शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण के इस रूप की मान्यता का अनुवर्ती परिणाम यह होना है कि तथाविध आलम्बन के सामने आने पर रसोद्बोधन से पूर्व सामाजिक आश्रय से तादात्म्य कर ले। इसी दृष्टि से उन्होंने आगे लिखा है—"साधारणीकरण के प्रतिपादन में पुराने आचार्यों (विश्वनाथ आदि) ने श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भावव्यञ्जना करने वाले पात्र) के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है।"

साधारणीकरण के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल की मान्यता की व्याख्या कुछ इस प्रकार की जा सकती है। पूजनीय व्यक्तियों यथा सीतादि के भी आलम्बन रूप में चित्रित किये जाने पर रसानुभूति होती है, इन-के प्रतिपादन के लिए भट्टनायक ने साधारणीकरण के सिद्धान्त की प्रक्रिया का अनुसन्धान किया। उन्होंने साधारणीकरण का कारण

काव्यगत भावकत्व वृत्ति को माना, जो काव्य में स्वभावत होती है। काव्य (कवेरिद काव्यम्) कवि की कृति होता है। अत यह भी स्पष्ट है कि काव्य में यह भावकत्व (साधारणीकरण करने की योग्यता) कवि द्वारा उत्पन्न की जाती है। जहाँ यह योग्यता नही वहाँ काव्यत्व भी न होगा। अत साधारणीकरण कविकर्मसापेक्ष है। ध्यान रहे कि भावकत्व को स्वतन्त्र शक्ति न मानने की अभिनवगुप्त की अवस्था में भी उक्त कथन में अन्तर नही पडता, क्योकि काव्यगत ही व्यञ्जना शक्ति से भावन वहाँ भी माना गया है। इस सापेक्ष होने की बात को ही आचार्य शुक्ल ने इस रूप में रखा कि किसी भाव के विषय (आलम्बन) को इस रूप मे (सबके उसी भाव का आलम्बन हो सकने योग्य रूप में) लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है। कवि ही 'आलम्बन' को इस रूप में लाता है। अत साधारणीकरण आलम्बन का होता है। इसमें शुक्ल जी इतना और जोड देते है कि " . साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है" (चिन्तामणि पृ० ३१३) —जिससे एक ही काव्य एक ही समय में अनेक जनो को रस दान करने में समर्थ होता है।

विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में विभावादिको के साधारणीकरण के साथ-साथ आश्रय के साथ तादात्म्य माना है—

> व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृति ।
> तत्प्रभावेण यस्यासन्पाथोधिप्लवनादय. ॥
> प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते ।

आचार्य श्यामसुन्दरदास जी का मत और ही है। उन्होने शुक्ल जी के मत को अमान्य ठहराते हुए लिखा है—"साधारणीकरण से यहाँ यह अर्थ लिया है कि विभाव और अनुभाव को साधारण रूप करके लाया जाय। पर साधारणीकरण तो कवि या भावक की चित्तवृत्ति से सम्बन्ध

रखता है। चित्त के साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है। हमारा हृदय साधारणीकरण करता है।"

आचार्य श्यामसुन्दर का मन्तव्य

आचार्य श्यामसुन्दरदास जी पाठक की चित्तवृत्तियों के एकतान एवं लय हो जाने को ही साधारणीकरण मानते हैं। उनके मन्तव्यानुसार रसानुभूति ब्रह्मानन्दसहोदर है। इसमें उसी प्रकार आनन्दानुभूति होती है जिस प्रकार योगी को ब्रह्मानन्द की। योगी का आनन्द स्थायी और यह क्षणिक है। मधुमती भूमिका (चित्त की वह विशेषावस्था है जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीन की प्रतीति वितर्क है। चित्त की यह समापत्ति सात्त्विक वृत्ति की प्रधानता का परिणाम है।) में पहुँचकर 'पर-प्रत्यक्ष' होता है। योगी की पहुँच साधना के बल पर जिस मधुमती भूमिका तक होती है उस भूमिका तक प्रतिभा-ज्ञान-सम्पन्न सत्कवि की पहुँच स्वभावतः हुआ करती है। जब तक हमें सांसारिक पदार्थों का 'अपर-प्रत्यक्ष' होता रहता है तब तक उनके दो रूप—सुखात्मक या दुःखात्मक—हमारे सामने रहते हैं। परन्तु जब हमें वस्तु का पर-प्रत्यक्ष (तत्त्व-ज्ञान) होता है तब वस्तु रूप मात्र का सुखात्मक रूप ही आलम्बन बनकर उपस्थित होता है। उस समय दुःखात्मक क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक दुःखात्मकता छोड़कर अलौकिक सुखात्मकता धारण कर लेते हैं। यही साधारणीकरण है।

आपके विवेचन का सार इस प्रकार है :—

(i) रसानुभूति मधुमती भूमिका में होती है।

(ii) मधुमती भूमिका में ही पर-प्रत्यक्ष होता है। उस समय ही अनुभूति अखण्ड होती है।

(iii) चित्तवृत्ति की इसी अखण्ड और एकतानता का नाम साधारणीकरण है।

आचार्य श्यामसुन्दरदास ने पाठक के चित्त का साधारणीकरण माना, और आलम्बन के साधारणीकृत होने का निषेध किया। डा० नगेन्द्र की युक्तियो के अनुसार पाठक तो

डा० नगेन्द्र का मत

'साधारणीकृत रूप का भोक्ता' है, अत उसका साधारणीकरण नही माना जा सकता। इसके अतिरिक्त रसानुभूति की दशा में सामाजिक, आश्रय, आलम्बन और कवि (व्यवहित—इनडाइरेक्ट रूप से) इन चार के व्यक्तित्व और उपस्थित रहते हैं। हमें इन्ही में से देखना चाहिए कि साधारणीकरण किनका होता है? आश्रय का तो मान्य इसलिए नही कि अप्रिय नायक (रावण या जघन्य वृत्ति वाले पूंजीपति) से तादात्म्य करना रुचिकर नही होगा। अब रहा आलम्बन! काव्य में जो आलम्बन हमारे सामने आता है वह कवि की मानसी सृष्टि होता है—व्यक्तिविशेष नही, अपितु उसका प्रतिरूपमात्र समझना चाहिये। उनके शब्दो में—' जिसे हम आलम्बन कहते हैं वह वास्तव में कवि की अपनी अनुभूति का सवेद्य रूप है। उसके साधारणीकरण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण ।" ऐसे आलम्बन के सम्बन्ध में 'पूज्य-बुद्धि' होने की बाधा भी नही। "हम काव्य की सीता से प्रेम करते हैं और काव्य की यह आलम्बन रूप सीता कोई व्यक्ति नही, जिससे हमको किसी प्रकार का सकोच करने की आवश्यकता हो, वह कवि की मानसी सृष्टि है ।" "अतएव निष्कर्ष यह निकला कि साधारणीकरण आचार्य कवि की अपनी अनुभूति का होता है ।" (**देखिये रीतिकाव्य की भूमिका पृ० ९०**)

साधारणीकरण सम्बन्धी उपर्युक्त सभी मतो का सम्यक् विश्लेषण करते हुए सुप्रसिद्ध आलोचक विद्वान् गुलाबराय जी इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि रसानुभूति की दशा मे पाठक

गुलाबराय का मत

अपने व्यक्तित्व के क्षुद्र बन्धनो को तोडने के कारण, कवि अपने निजी व्यक्तित्व से ऊँचा उठकर लोक-प्रतिनिधि बनने के कारण, भाव 'अय निज परो

चेति' की लघुचेतसो की गणना मे मुक्ति पा जाने के कारण और आलम्बन (अपने व्यक्तित्व में प्रतिष्ठित रहकर ही) व्यापक सर्वजन-सुलभ सम्बन्धो के रूप में आ जाने के कारण साधारणीकृत हो जाता है।

साधारणीकरण आश्रय, आलम्बन, स्थायीभाव, कवि और सामाजिक में से किसका होता है, इस प्रश्न का उत्तर उपर्युक्त विद्वानो ने अपने-अपने दृष्टिकोण से दिया। जहाँ तक भट्टनायक के दृष्टिकोण का प्रश्न है, वे तो आलम्बन को ही प्रश्रय देते मालूम होते है, क्योंकि उनके सामने प्रश्न ही यह था कि सीतादि पूज्य व्यक्तियो के आलम्बन रूप में उपन्यस्त होने पर रसानुभूति कैसे होती है ? इस प्रश्न का स्वरूप भट्टनायक की दृष्टि की ओर स्पष्ट इशारा करता है। इसी का लक्ष्य करते हुए आचार्य शुक्ल ने साधारणीकरण सम्भव कैसे होता है इस रहस्य का व्याख्यान अपनी अन्तर्दर्शिनी बुद्धि से किया।

उपरिलिखित मतों का समाहार

आचार्य श्यामसुन्दरदास जी के मत को देखने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी समस्या बडी सीधी है, और अपनी दृष्टि पर ही उपयुक्त चश्मा चढ़ा लेने से सम्पूर्ण दृश्य अनुकूल दिखाई देने लगता है। परन्तु इसमें जो भी समझदारी है वह सामाजिक की ही प्रतीत होती है, कवि-कौशल या काव्य के चमत्कार को कुछ भी श्रेय नही मिलता। ऐसी अवस्था में क्या काव्य और नाटक से बाहर भी साधारणीकरण सम्भव है ?—यह प्रश्न उठता है। हमारी समझ में इसे कोई भी स्वीकार करने के लिए तैयार नही होगा कि सामाजिक अपनी किसी तथाकथित विशिष्ट साधना के बल पर मधुमती भूमिका में पहुँच जाता है। यदि यह कहा जाय कि सामाजिक उस अवस्था में कवि-कौशल अथवा आलम्बन के चमत्कार से पहुँचता है तो इसका तात्पर्य यही हुआ न कि साधारणीकरण आलम्बन का होता है जिससे प्रेक्षक की वैसी दृष्टि

मिल जाती है। वास्तव में मधुमती भूमिका में पहुँचने के लिए (एकतानलय होने के लिये) आलम्बन का रागमय तीव्र आकर्षण होना चाहिए। आलम्बन के इसी आकर्षण पर तो आचार्य शुक्ल जोर देते हैं।

डा० नगेन्द्र ने जो यह कहा कि साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है, वह इस प्रश्न का उत्तर है कि वस्तुत आलम्बन आदि का मूल स्वरूप क्या है ? वैसे तो साधारणीकरण वे भी विभावादि सभी का ही मानते है। 'साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है' इस कथन में यह बात स्वीकृत है ही कि साधारणीकरण विभावादि सभी का होता है, चाहे वे विभावादि वास्तव मे कवि की अनुभूति ही क्यो न माने जावें। अत तात्त्विक दृष्टि से डा० नगेन्द्र और आचार्य गुलाबराय जी के मत मे कोई भेद नही है।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

इसके पश्चात् उक्त सूत्र के सर्वाधिक प्रामाणिक व्याख्याता अभिनवगुप्त हुए है। इन्होने भट्टनायक की कई मान्यताओ को स्वीकार करते हुए भी भावकत्व और भोजकत्व नामक काव्यगत दो शक्तियो को निराधार बताया। इनके कथनानुसार उक्त दोनो शक्तियो का काम व्यजना या ध्वनि से ही चल सकता है। जो 'भाव' (काव्यार्थ) है वह स्वत ही भावित होने की योग्यता रखता है। क्योकि जो भावना का विषय बने वही तो भाव है। ये भावित भाव व्यञ्जना शक्ति द्वारा आश्रय के हृदय में स्थित रति को रस रूप में अभिव्यक्त कर देते हैं। इसी प्रकार 'रस' में भोग का भाव भी स्वाभाविक रूप से विद्यमान है। जो भोग को प्राप्त हो सके वही तो रस है। अत सूत्रगत सयोग का अर्थ व्यञ्जित होना और निष्पत्ति का आनन्द रूप से प्रकाशित होना है।

इन्होंने अपने मत का प्रतिपादन निम्न प्रकार किया —

"सर्वसाधारण, (लोके) लौकिक व्यवहारों में स्वत: प्राप्त रहने वाले (प्रमदाभि) प्रमदा, उद्यान और कटाक्षनिर्वेदादि के द्वारा (स्थाय्यनुमानेऽभ्यास-) स्थायीभावों के अनुमान करने के विषय के अभ्यास में (पाटवताम्) कुशलता को प्राप्त हो जाते हैं।

(काव्येनाट्ये च) काव्य और नाटकों में (नैरेव) उन्हीं (कारणत्वा दीनाम्) कारण-कार्य और सहयोगी कारणों का (परिहारेण) परित्याग कर दिया जाता है, और (विभावनादिव्यापारवत्त्वात्) विभावनादि व्यापार वाला होने के कारण (अलौकिकविभावादिशब्दव्यवहार्यैः —) विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी इन अलौकिक नामों से पुकारा जाता है।

ये विभावादि "(ममैवैते) मेरे ही हैं (शत्रोरेवैते) शत्रु के ही हैं (न तटस्थस्यैवैते) उदासीन के ही हैं अथवा (न ममैवैते) मेरे ही नहीं हैं (न शत्रोरेवैते) शत्रु के ही नहीं हैं"—(इति) इस प्रकार के (सम्बन्धविशेषम्) सम्बन्धविशेष के (स्वीकारपरिहारनियमा-नध्यवसायात्) स्वीकार या परित्याग के नियमों का ज्ञान न रहने के कारण (साधारण्येन प्रतीतैः —) साधारणीकृत रूप में ही प्रतीत या ज्ञानगोचर होते हैं।

(सामाजिकानां वासनात्मतया स्थित:) सामाजिकों के चित्त में वासनारूप से स्थित (स्थायीरत्यादिक:) जो स्थायीरत्यादि भाव है वह (नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि) निश्चित ज्ञातृ-गत—प्रेक्षक विशेष में—रूप में होता हुआ भी (साधारणोपायबलात्) साधारणीकृत विभावादि कारणों के बल से (तत्काल) नाट्यदर्शन के समय में ही (विगलितपरिमितप्रमातृभाववशो) निश्चित ज्ञाता के भाव से भी विलग [अर्थात् प्रेक्षक आत्मसत्ता के ज्ञान से भी रहित हो जाता है] होकर (अभिव्यक्त) अभिव्यञ्जित होता है।

(उन्मिषित) इस प्रकार से प्रकाशित (वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य) इतर ज्ञान के सम्पर्क से रहित (अपरिमितभावेन) अनन्तभाव में

(सकलसहृदयसवादभाजा) सभी सहृदयो के राग का पात्र होता हुआ (साधारण्येन स्वाकार इवाऽभिन्नोऽपि) साधारणीकृत होकर भी अपने रूप से अभिन्न ही जो रत्यादि स्थायीभाव हैं वह (प्रमातृगोचरीकृत) सामाजिक द्वारा अनुभव का विषय होता है।

(चर्व्यमाणतैकप्राण) चर्वण—आस्वादन—मात्र ही जीवन के स्वरूप वाला, (विभावादिजीवितावधि) विभावादि की सत्तापर्यन्त जीवन की अवधि वाला (पानकरसन्यायेन चर्व्यमाण) विलक्षण स्वादोत्पादक पानकरस-न्याय से आस्वादित होने वाला, (पुर इव परिस्फुरन्) सामने ही निर्झरित होता हुआ, (हृदयमिव) प्रविशन् हृदय में समाता हुआ सा (सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन्) सर्वाङ्ग को आलिङ्गन करता हुआ सा (अन्यत्सर्वमिव तिरोदधत्) अन्य सभी को तिरोहित करता हुआ सा (ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्) और ब्रह्मानन्द का आस्वादन कराता हुआ सा (अलौकिकचमत्कारकारी) लोकोत्तर चमत्कार का कर्ता (शृङ्गारादिको रस) शृङ्गारादिक रस है।"

अभिनवगुप्त के अनुसार रस का परिपाक निम्न प्रकार होता है—

"सामाजिक लौकिक व्यवहारो में रति के कार्य-कारणो का अनुभव करता रहता है, जिससे रति बार-बार अनुमित होती है। यह अनुमान की गई रति सहृदय सामाजिक के हृदय में सस्कार रूप से सन्निविष्ट हो जाती है।"—इस प्रकार के सामाजिक के सामने जब नट नकली कारण-कार्यादि (विभावादि) का विस्तार करता है तो वह काव्यार्थ के ज्ञान के पश्चात् उसका भावन व्यञ्जना शक्ति द्वारा करता है। फलत विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है। और रजोगुण व तमोगुण का तिरोभाव होकर सत्त्वगुण के उद्रेक की अवस्था में पूर्व कथित प्रकार से सस्कार रूप से विद्यमान सामाजिक के रत्यादि स्थायीभाव रस रूप में अभिव्यक्त होते हैं। यह रस की अभिव्यक्ति ही निष्पत्ति है।

अब हम इनकी मान्यताओ का समाहार इस प्रकार कह सकते हैं—

[क] रस की स्थिति सीधी सहृदय में ही, भट्टनायक की तरह, मानते हैं।

[ख] भट्टनायक का साधारणीकरण का सिद्धान्त भी स्वीकार करते हैं।

[ग] और भट्टनायक के—'काव्यानन्द की उद्रेकावस्था में रजोगुण व तमोगुण का तिरोभाव और सत्त्वगुण का आविर्भाव हो जाता है।" इस सिद्धान्त का भी समर्थन करते हैं।

[घ] मानव-आत्मा शाश्वत है। पूर्वजन्म व इस जन्म में लौकिक व्यवहारों के संसर्ग से आत्मा के साथ कुछ वासनाएँ संस्कार रूप से संलग्न रहती हैं। ये मूल वासनाएँ ही स्थायीभाव हैं। काव्यानुशीलन या नाटक देखने से ये वासनाएँ उद्बुद्ध हो रस रूप में परिणत हो जाती हैं। इस प्रकार रस अभिव्यक्त होता है। निष्पत्ति का अर्थ हुआ अभिव्यक्ति।

इस प्रकार से रस-समीक्षा के प्रसङ्ग में उपन्यस्त उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद और भुक्तिवाद के तीनों सिद्धान्त अनेक रूपों में सदोष पाये गये। अत उन्हें अस्वीकार्य ठहराया गया। अभिनवगुप्त की व्याख्या सर्वाधिक समीचीन मानकर रसस्थिति सामाजिक में स्वीकार की गई। और उनके अभिव्यक्तिवाद को भारतीय काव्यशास्त्र में सर्व-सम्मत रूप में ग्रहण किया गया। बाद में आने वाले मम्मट, विश्वनाथ आदि विद्वानों ने इसी मत को ग्रहण कर पुष्ट किया।

रस-परिपाक की प्रक्रिया को आधुनिक विद्वानों ने भी नवीन मनोविज्ञान और सौन्दर्य-शास्त्र के प्रकाश में देखने का प्रयत्न किया है।

विवेचन

उनकी मूलधारणा यह है कि रस का वैज्ञानिक विवेचन करने के लिये स्वतन्त्र चिन्तन आवश्यक है, भरत के सूत्र की व्याख्या का पल्ला पकड़े रहने से सचाई की खोज का मार्ग सीमित हो जाता है। वे रस-

परिपाक-प्रक्रिया विवेचन के लिए "शाकुन्तलम्" की—मूल ऐतिहासिक घटना से लेकर 'राष्ट्रीय रङ्गशाला' देहली में अभिनीत होकर प्रेक्षक को रस दान करने तक की – सम्पूर्ण क्रियाविधि का विश्लेषण करते है —

(i) सर्वप्रथम अति प्राचीन समय मे कण्व ऋषि के रम्य आश्रम में दुष्यन्त ने शकुन्तला को देखकर अपने हृदय में रति का अनुभव अवश्य ही किया होगा।

(ii) इसके पश्चात् महाकवि कालिदास ने अपने अध्ययन-कक्ष में बैठकर महाभारत में वर्णित उक्त उपाख्यान को पढकर कल्पना के द्वारा उक्त रतिभाव का अनुभव किया होगा। मानव-सुलभ-सहानुभूति के कारण यह सर्वथा सम्भव है।

(iii) इसी प्रकार नाटक के शौकीन आधुनिक प्रेक्षक श्री अनिल और रम्भादेवी भी इतिहास पढकर कल्पना के द्वारा उस रति का अनुभव कर सकते है।

(iv) फिर महाकवि ने किसी स्मरणीय क्षण में उस स्मृतिशेष अनुभूति के सस्कार का भावन करते हुए अपने हृदय में पुन जाग्रत किया होगा और 'शाकुन्तलम्' के रूप मे शव्दबद्ध कर सदा के लिए अमर वना दिया।

(v) जव 'भारतीय गणतन्त्र समारोह' के अवसर पर राष्ट्रीय रङ्गशाला में 'शाकुन्तलम्' का अभिनय किया गया तो अभिनेताओ ने भी उक्त रति का अनुभव किया होगा, क्योकि श्रेष्ठ अभिनय के लिए उसमे तल्लीन होकर अनुभूति ग्रहण करना आवश्यक है।

(vi) नाटक के शौकीन हमारे परिचित अनिल और रम्भादेवी दोनो ही नाटक देखने अवश्य गये होगे और उन्होंने भी उसी रति का अनुभव किया होगा।

इस प्रकार ये छ अनुभूतियाँ हुई। इनमें 'रस' अनुभूति किसे कहें, यही विचारणीय है। देखने से पता चलता है कि ये अनुभूतियाँ तीन प्रकार की हैं—

(i) प्रत्यक्ष अनुभूति—दुष्यन्त और शकुन्तला की अनुभूति ऐसी ही है।

(ii) कल्पना में प्रत्यक्ष अनुभूति—जैसे महाभारत (इतिहास) में पढ़कर प्राप्त की गई कवि, अनिल और रम्भादेवी की अनुभूतियाँ।

(iii) प्रत्यक्ष या कल्पनात्मक अनुभूति के संस्कारों के भावन द्वारा उद्बुद्ध अनुभूति—जैसे 'शाकुन्तलम' के प्रणयन काल की कवि की अनुभूति तथा अभिनेताओं और प्रेक्षक रूप से उपस्थित अनिल व रम्भादेवी की अनुभूति।

कल्पनामूलक अनुभूतियाँ भी प्रत्यक्ष ही कही जा सकती हैं। इन प्रथम तीन अनुभूतियाँ प्रत्यक्ष होने से भावमात्र हैं। ये प्रसङ्ग के अनुसार कटु भी हो सकती हैं। शेष तीन अनुभूतियों में कवि की समृद्ध भाव-शक्ति का पुट है। उसका अपना हृदय तो भावुक होता ही है परन्तु उसने भाषा के प्रतीकों को भी वह शक्ति प्रदान कर दी है कि वे दूसरों में भी वैसे ही भाव जागृत कर सकें। अत इस भाव-प्रवणता के कारण ये तीनों अनुभूतियाँ भावित हैं और प्रत्येक अवस्था में आनन्दमय होने का ही सामर्थ्य रखती हैं। इस कारण रस संज्ञा भी इन्हीं की हो सकती है। अस्तु!

इस विश्लेषण से हम इस परिणाम पर पहुँचे कि साक्षात् प्रत्यक्ष अथवा कल्पना में प्राप्त प्रत्यक्ष अनुभूति के संस्कार समृद्ध भाव-शक्ति के द्वारा भावित होते हैं, जिससे वे हर अवस्था में आनन्दमय ही होते हैं और 'रस' कहलाते हैं।

इस कसौटी से मालूम पड़ा कि—

(*i*) रचना के समय कवि रस ग्रहण करता है।
(*ii*) अभिनय के समय नट-नटी भी रस ग्रहण करते हैं ।
(*iii*) और सहृदय के वासनारूप से स्थित स्थायीभाव जागृत होकर रसदशा को पहुँचते ही हैं।

अत रसस्थिति न केवल प्रेक्षक में अपितु कवि और नट-नटी में भी माननीय है। परन्तु रस—

(*i*) वस्तु में नही रहता।
(*ii*) नायक-नायिका की सत्ता रस ृष्टि से निर्विशेष होती है। अत उनमें रस की स्थिति नही होती।

व्याख्याकार	दर्शन	रस का बीज	रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया	रस की स्थिति	न्याय	सूत्रार्थ	
						संयोग का अर्थ	निष्पत्ति का अर्थ
भट्टलोल्लट	मीमांसक उत्पत्ति-वाद	अनुकार्य का स्थायी-भाव	नट के अनुकरण पर (नटादि अनुकर्ताओं में) प्रेक्षक अनुकार्यों का आरोप कर लेता है। इससे उनके रस की प्रतीति होती है। रस-प्रतीति से प्रेक्षक के हृदय में भी आनन्द (रस) उत्पन्न हो जाता है।	मूल रूप से अनु-कार्यों में। गौण रूप से सामा-जिक में।	कारण-कार्य भाव	विभाव, अनुभाव और संचारियों के संयोग से (आरोपित होने से—नाटकगत विभावादि पर अनुकार्य और उसके कारण-कार्यों का आरोप होने से)	रसप्रतीति द्वारा रस उत्पन्न होता है।
श्री शंकुक	नैयायिक अनुमिति-वाद	अनुकार्य का स्थायी भाव	नट के अनुकरण पर प्रेक्षक अनुकार्यों का तादात्म्य कर लेता है। फिर उनके भाव (आनन्द या रस) का भी अनुमान कर लेता है। अनुमित भाव ही रस है।	मूल रूप से अनु-कार्यों में। गौण रूप से सामा-जिकों में।	गम्य-गमक भाव	विभाव, अनुभाव और संचारियों के संयोग से (अनुकार्य के कारण-कार्य और सहयोगी कारण रूप से समझ लिए जाने पर)	रस का अनुमान होता है।

भट्टनायक	साख्य-वादी भुक्तिवाद	प्रेक्षक का स्थायी-भाव	नट के अनुकरण पर से काव्यार्थ का ज्ञान (अभिधा द्वारा) होता है। इस विज्ञात रति एव विभावादि का साधारणीकरण भावकत्व द्वारा होता है। इस प्रकार साधारणीकृत विभावादि के साथ स्थायीभाव का उपभोग भुक्ति द्वारा होता है। यह भुक्ति ही रस है।	प्रेक्षक में ही	भोज्य-भोजक भाव	विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियो के सयोग से (*विज्ञात होकर भावित होने से*) प्रेक्षक के सस्कारो की *भुक्ति* होती है।
अभिनव-गुप्त	वेदान्ती अभि-व्यक्तिवाद	प्रेक्षक का स्थायी-भाव	नट के अनुकरण पर से काव्यार्थ (भाव) का ज्ञान (अभिधा द्वारा) होता है। इस विज्ञात भाव और विभावादि का भावन (साधारणीकरण) व्यञ्जना वृत्ति द्वारा होता है। ऐमा होने पर प्रेक्षकगत सम्कार रूप स्थायी-भाव अभिव्यक्त हो आस्वादित होते हैं।	प्रेक्षक में ही	व्यग्य-व्यञ्जक भाव	विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियो के सयोग से (*विज्ञात होकर भावित होने से*) प्रेक्षक के सस्कारो की *अभिव्यक्ति* होती है।

[२] रस का स्वरूप

सत्त्वोद्रेकादखण्ड-स्वप्रकाशानन्द-चिन्मयः ,
वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्यो ब्रह्मास्वाद-सहोदरः ।
लोकोत्तर चमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः ,
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥

—साहित्यदर्पण ।३। २, ३ ॥

"सत्त्वगुण के प्राधान्य से यह अखण्ड, स्वतः प्रकाशित, आनन्द चिन्मय (आनन्दस्वरूप ज्ञानमय), इतर ज्ञान से रहित, ब्रह्मानन्दसहोदर और लोकोत्तर चमत्कार वाला 'रस' सहृदयों के द्वारा अपनी देह की तरह अभिन्न रूप में (अर्थात् ज्ञातृज्ञान के भेद के बिना ही) आस्वादित होता है।"

आज का वैज्ञानिक निरीक्षण परीक्षण का विश्वासी होकर तत्त्वज्ञान की खोज में संलग्न रहता है, जबकि पुरातन भारतीय मनीषी एकाग्रचित्त होकर अन्तर्दृष्टि के द्वारा विषय का समग्र रूप से दर्शन करते थे। विविध विज्ञानों की दुहाई देकर रस-स्वरूप-सम्बन्धी जो विस्तृत विवेचन किये जा रहे हैं उनमें तथ्य का उतना विशद चित्र नहीं रहता जितना कि विश्वनाथ ने ऊपर के दो संक्षिप्त श्लोकों में रख दिया है। इन श्लोकों की शब्दावली में रस के जो विशेषण दिये गये हैं वे अत्यन्त मर्मपूर्ण हैं, प्रत्येक शब्द के पीछे विस्तृत चिन्ता-राशि का पृष्ठदेश है। सूत्र रूप में कहे गये उपर्युक्त रस-स्वरूप-परिचायक विशेषण हमारे समझने के लिए व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं। इस प्रकार की व्याख्या को आधुनिक विद्वानों ने वैज्ञानिक कसौटी पर रखकर जब परखा तो उसे प्रायः सर्वथा वैज्ञानिक और खरा पाया। हमें भी यहाँ यह देखना है कि रस के स्वरूप की प्राचीन व्याख्या कहाँ तक तर्क-संगत है। प्रथम उन अर्थ-गर्भित विशेषणों को देख लेना सुविधाजनक होगा —

(*i*) सत्त्वोद्रेकात्—रस-निष्पत्ति में सत्त्वगुरा को हेतु माना है। जब रजोगुरा और तमोगुरा का तिरोभाव होकर सत्त्व का आवि-र्भाव हो जाता है तब रस-निष्पत्ति होती है। सत्त्वोद्रेक की इस अवस्था में आस्वाद ही रस है, अत वह आस्वादित होने वाले रति आदि भाव से पृथक् है। अर्थात् रस भाव से भिन्न है। और इसी से हम कह सकते हैं कि शृ गार रस का अर्थ रति का अनुभव नही। डा० भगवानदास के शब्दो में—"भाव, क्षोभ, सरभ, सवेग, आवेग, उद्वेग आवेश, अँग्रेज़ी में इमोशन का अनुभव रस नही है, किन्तु उस अनुभव का स्मरण, प्रतिसवेदन, आस्वादन रस है।"

(*ii*) अखण्ड—रसानुभूति की चेतना विभाव, अनुभाव आदि की खण्ड चेतना नही है अपितु उन सबकी सम्मिलित एक चेतना है।

(*iii*) स्वप्रकाश—रस के ज्ञान के लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्य-कता नही। रस स्वयमेव प्रकाशित होता है। जैसे ज्ञानान्तर अपने विषय घट को प्रकाशित करता है वैसे ही रस स्वय को प्रकाशित करता है।

(*iv*) आनन्दचिन्मय—रसानुभूति आनन्दमय है और चिन्मय, अर्थात् बुद्धि और इच्छापूर्वक होने वाली है। कतिपय अनैच्छिक शारीरिक क्रियाओ की तरह नही।

(*v*) वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्य—रसानुभूति के समय उससे इतर अनुभूति की सत्ता नही रहती। इतर ज्ञेय के स्पर्श से रहित होती है।

(*vi*) ब्रह्मास्वादसहोदर—ब्रह्मास्वाद का प्रयोग इस तरह किया गया है मानो वह सर्व-जन-विदित हो। उस समय के आध्यात्मिक वातावरण मे इस निर्देश से रसानुभूति के आनन्द का कुछ आभास अवश्य ही हो जाता होगा। इसका आशय है कि रसा-निभूति का आनन्द सवितर्क ब्रह्मानन्द का सजातीय है, अर्थात्

उनमें अहंकार की भावना के होते हुए भी एकनिष्ठ तल्लीनता रहती है।

(*vii*) लोकोत्तरचमत्कारप्राण—अद्भुत विस्मय (चित्त का विस्तार) का आनन्द प्राण रूप होकर रसानुभूति में रहता है। रति आदि की प्रतिष्ठा नायक-नायिका में होने के विपरीत रस सहृदय में प्रतिष्ठित होता है, अतः अलौकिक है।

(*viii*) स्वाकारवदभिन्नत्वेन—अपने शरीर की तरह अभिन्न रूप में। यद्यपि हमारा शरीर हमसे भिन्न है फिर भी उसकी भिन्नता का उल्लेख किये बिना "मैं स्थूल हूँ" ऐसा एकतासूचक कथन किया जाता है। इसी तरह ज्ञाता (प्रेक्षक या पाठक) और ज्ञान (रस) के भिन्न होते हुए भी अभिन्न रूप से ही आस्वादन होता है।

इस प्रकार भारतीय आचार्यों ने रस के स्वरूप को हर तरफ से देखा और उसे सर्वथा असामान्य पाया, उसकी तुलना में कोई लौकिक पदार्थ न रख सके। अतः उन्होंने रस की मौलिक विशेषता—"अलौकिकत्व (निरालापन)"—ढूंढ निकाली, जिसकी व्याख्या निम्न प्रकार की गई —

(*i*) शकुन्तला के दर्शन से दुष्यन्त को जो रति का उद्बोध हुआ था वह एक ही व्यक्ति में परिमित था। परन्तु रस काव्य द्वारा एक ही समय में अनेक व्यक्तियों में प्रवाहित हो सकने के कारण अपरिमित है।

(*ii*) दुष्यन्तादि में उद्बुद्ध रति लौकिक है। तभी तो उसका दर्शन, पर-रहस्यदर्शन शिष्टसम्मत न होने से, अरुचिकर है। परन्तु काव्यादि के नायक-नायिका का रतिभाव साधारणीकृत होने से पर-रहस्य नहीं।

(*iii*) रस ज्ञाप्य नही है। होने पर अवश्य अनुभूत होता है क्योंकि वह स्वत प्रकाशी है। उस पर आवरण नही हो सकता। जैसे ज्ञाप्य घट प्रकाशक दीपादि के रहने पर भी ढके हुए होने से अदर्शित ही रहता है, ऐसे रस नही।

(*iv*) रस कार्य नही। यदि कार्य होता तो विभावादियो के न रहने पर भी उसकी प्रतीति सम्भव होती। जैसे घट अपने 'निमित्त-कारण' दण्डचक्रादि के बाद भी रहता है।

(*v*) रस नित्य भी नही। यदि वह नित्य होता तो "रस की अभिव्यक्ति हुई" ऐसा नही कहा जाता। साक्षात्कार का विषय होने के कारण भविष्यत्कालिक भी नही। तथा कार्य और ज्ञाप्य न होने के कारण उसे 'वर्तमान' भी नही कहा जा सकता।

इतनी बातें रस की सर्वथा अलौकिकता एव अनिर्वचीयता की सिद्धि के लिए काफी है।

आधुनिक दृष्टि

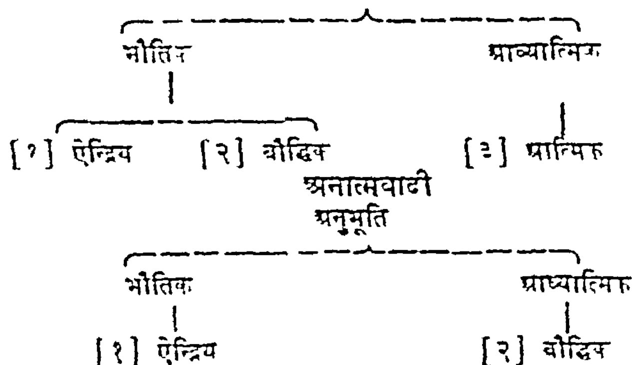
अब हमें रस का स्वरूप क्या है, इस समस्या का उत्तर आधुनिक वैज्ञानिको की दृष्टि से भी देखना आवश्यक है। क्या आधुनिक विद्वान् भी उन्ही परिणामो पर पहुँचते हैं जिन पर कि प्राचीन रसवादी स्थिर हुए थे ? हमारे सामने प्रश्न का रूप यह है कि काव्य या नाटक से प्राप्त होने वाला आनन्द ऐन्द्रिय है या आध्यात्मिक है, अथवा इन दोनों से विलक्षण किसी अन्य ही प्रकार का है ?

अनुभूति को हम स्थूल रूप से तीन प्रकार की मान सकते हैं—(१) ऐन्द्रिय (२) बौद्धिक और (३) आध्यात्मिक। जो लोग आत्मा की ही सत्ता को स्वीकार नही करते और अनात्मवादी होने की घोषणा करते हैं, उनकी दृष्टि से अनुभूति दो ही प्रकार की है। उक्त तीनो प्रकार की अनुभूतियो के क्रमश उदाहरण निम्न प्रकार दिये जा सकते है। लौकिक शारीरिक रति या चुम्बन का आनन्द ऐन्द्रिय है। ग्रन्थसमाप्ति पर प्रणेता

रों जो आनन्द होता है वह बौद्धिक और योगी का ब्रह्मसाक्षात्कार का आनन्द आध्यात्मिक कहा जा सकता है। अनुभूतिविषयक आत्म और अनात्म वादियों का उक्त विभाजन निम्न प्रकार रख सकते हैं :—

आत्मवादी

अनुभूति



अब हमें देखना है कि काव्यानुभूति इनमें से किस प्रकार की है ? स्वदेश-विदेश के विद्वान् अपनी-अपनी कल्पनाओं और तर्क-प्रणालियों के द्वारा सभी सम्भव मान्यताओं की प्रतिष्ठा कर चुके हैं। तदनुसार काव्यानुभूति सम्बन्धी निम्न तीन मान्यताएँ सामने आती हैं —

[१] काव्यानुभूति का आनन्द ऐन्द्रिय है। इसके पुरस्कर्ता प्लेटो आदि हैं। उनकी दृष्टि में यह आत्मा (बुद्धि) की सौन्दर्यानुभूति से भिन्न है, अतः निम्न कोटि की है।

[२] काव्यानुभूति का आनन्द आध्यात्मिक है। काव्यसौन्दर्य-रूप आत्मा की अभिव्यक्ति होने से आनन्दमय है, और इसीलिये यह आनन्द आध्यात्मिक है। हीगल और कवीन्द्र रवीन्द्र की यही मान्यता है।

[३] काव्यानुभूति न ऐन्द्रिय है न आध्यात्मिक। इस स्थापना के अन्तर्गत आने वाली मान्यताओं के निम्न तीन प्रकार हैं —

(i) काव्यानन्द न ऐन्द्रिय है न आध्यात्मिक। वह कल्पना का आनन्द है। अर्थात् मूल वस्तु के रूप और कला द्वारा अनुकृत रूप में जो समता है उसके भावन से प्राप्त होने वाला आनन्द है, जा न ऐन्द्रिय है और न आध्यात्मिक। इस मत के प्रस्तोता एडीसन हैं।

(ii) काव्यानुभूति न ऐन्द्रिय है न बौद्धिक अपितु इन दोनो की मध्यवर्ती 'सहजानुभूति' है। सहजानुभूति क्या है ? इसकी अपनी विशिष्ट व्याख्या है। इस मत के प्रतिपादक बैनेडेटो क्रोचे हैं। उनके अनुसार मानव-प्राण-चेतना में सहाजानुभूति की एक पृथक् शक्ति होती है। काव्यानुभूति इसी का गुण है। उस शक्ति का निर्माण बौद्धिक धारणाओ और ऐन्द्रिय सवेदनो द्वारा न होकर बिम्बो द्वारा होता है।

(iii) काव्यानन्द न ऐन्द्रिय है न आध्यात्मिक। यह एक निरपेक्ष अनुभूति है। इसे हम विशिष्ट प्रकार का अलौकिक आनन्द कह सकते हैं, जिसकी तुलना में किसी भी लौकिक आनन्द को नही रखा जा सकता। यह मत प्राचीन है, परन्तु इस युग में ब्रैडले आदि ने इसका मण्डन विशेष रूप से किया है।

यहाँ पर उपयुक्त मान्यताओ की क्रमश परीक्षा करना आवश्यक है। यह कहने की आवश्यकता नही कि काव्यानुभूति ऐन्द्रिय अनुभूति से भिन्न है, क्योकि एक साधारण व्यक्ति भी यह जानता है कि नाटक देखने से मुझे आनन्द ही मिलेगा, चाहे वह नाटक दु खान्त ही क्यो न हो। अत यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि काव्यानुभूति आनन्दस्वरूप ही होने के कारण लौकिक एव ऐन्द्रिय सुख-दु खात्मक अनुभूतियों से भिन्न है।

अनात्मवादियो के लिए तो काव्यानुभूति को आध्यात्मिक मानने का प्रश्न ही नही उठता। इसके अतिरिक्त आत्मवादियो को भी काव्या-

नन्द में आध्यात्मिक आनन्द की वह शान्त गम्भीर ध्वनि नहीं सुनाई दे सकती, जिसे योगी लोग प्राप्त करते हैं। योग का उक्त आनन्द स्थायी होता है और काव्यानन्द क्षणिक है। अतः काव्यानन्द आध्यात्मिक भी नहीं कहा जा सकता।

इसी तरह एडीसन ने 'कल्पना के आनन्द' और क्रोचे की 'सहजानुभूति' की विचित्र शक्ति को मनोविज्ञान में स्वतन्त्र सत्ता के रूप में स्थान नहीं दिया जा सकता। कल्पना तो मन और बुद्धि की क्रिया है। अतः कल्पना का आनन्द निःसन्देह ऐन्द्रिय आनन्द होगा, जो काव्यानन्द नहीं कहा जा सकता। क्रोचे की सहजानुभूति की शक्ति को भी सभी वैज्ञानिकों ने एकस्वर से अमान्य ठहरा दिया है। अतः उपरोक्त मतों में से कोई भी मत आज के मनोविज्ञान के विद्यार्थी को सन्तोष प्रदान नहीं करता।

केवल अन्तिम मत प्राचीन रस-सिद्धान्त में वर्णित रस के स्वरूप से मेल खाता है। उसके सम्बन्ध में भी कुछ विद्वानों का निम्न प्रकार आक्षेप है। उनका कहना है कि उक्त मत की मान्यता की स्वीकृति के लिए विपुल श्रद्धा की आवश्यकता है जो वैज्ञानिक के पास नहीं होती। श्रद्धावश काव्यानन्द को अलौकिक, लोकोत्तर और अनिर्वचनीय कहते रहने से तथ्य का उद्घाटन नहीं होता। यह तो एक प्रकार से समस्या को छोड़कर पलायन है। ये विद्वान् काव्यानुशीलन और नाटक देखने की दशाओं का स्वतन्त्र रूप से पर्यवेक्षण करते हुए सर्वदा स्वतन्त्र मत की स्थापना करते हैं। इनकी दृष्टि से रतिपान में व्यक्ति की चित्त की विद्रुति और रोमाञ्च आदि जिस प्रकार से संवेदन होते हैं, वैसे ही संवेदन नाटक देखते समय भी अवश्य होते हैं। ये सब ऐन्द्रिय ही हैं। अतः यह बात प्रत्यक्ष है कि काव्यानुभूति में ऐन्द्रिय अंश अवश्य रहता है। यह बात दूसरी है कि यह ऐन्द्रियता भिन्न प्रकार की है। विचार करने पर ज्ञात होता है कि ऐन्द्रिय आनन्द और काव्यानन्द में समता होने पर भी एक प्रकार की

भिन्नता अवश्य है। यह भिन्नता सिर्फ प्रत्यक्षता एव तीव्रता की ही कही जा सकती है। प्रथम अवस्था में चुम्बन आदि द्वारा प्राप्त होने वाला आनन्द प्रत्यक्ष और तीव्रतर है। काव्यानन्द में उतनी प्रत्यक्षता और तीव्रता नही रहती। इसका कारण यह है कि काव्यानुभूति प्रत्यक्ष मूल घटना की अनुभूति नही है। मूल घटना का कवि को सर्वप्रथम इन्द्रिय सन्निकर्ष या कल्पनात्मक सन्निकर्ष होता है। तदनन्तर कवि उसका भावन करता है। इस भावित घटना का भावन दर्शक करता है। भावन में दोनों को बुद्धि व मन का उपयोग करना होता है। अत दर्शक या पाठक की अनुभूति भावित (Contemplated) घटना पर निर्भर रहती है जिससे उसे भावित अनुभूति कहते है। और उसकी यह भावित अनुभूति सूक्ष्म और प्रत्यक्ष ही होती है। इस प्रकार वे इस परिणाम पर पहुँचते है कि काव्यानुभूति है तो ऐन्द्रिय अनुभूति ही, पर वह भावित अनुभूति है।

भावित अनुभूति का तात्पर्य केवल इतना है कि उसमें प्रत्याक्षानुभूति जैसी स्थूलता एव तीव्रता नही होती। अनुभूति का स्वरूप भी यह कहकर स्पष्ट किया जा सकता है कि वह सवेदनात्मक होती है, अर्थात् काव्यानु-भूति के सवेदन मानसिक सवेदनो से सूक्ष्मतर और विश्लेषणात्मक-बौद्धिक सवेदनो से कुछ अधिक स्पष्ट होते है। इस प्रकार उक्त विद्वानो के इस विवेचनका साराश यह निकला कि काव्यानुभूति का आनन्द बौद्धिक और ऐन्द्रिय अनुभूतियो के अन्तर्गत सवेदन रूप ही है। परन्तु सवेदन स्थूल और प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म और बिम्ब रूप होते है।

यह विवेचन नया नही। इसी मार्ग का अनुसरण करते हुए प्राचीन आचार्य भी यही पहुँचे थे। उन्होने देखा कि अन्य अनुभूतियो की तरह जब काव्यानुभुति भी ऐन्द्रिय है तो फिर वही समस्या सामने आती है कि कटु सवेदनो से कटु अनुभूति क्यो नही होती ? उक्त आधुनिक वैज्ञा-निक तो यह कहकर कि काव्यानुभूति भावित होने से व्यवस्थित हो

जाती है, फलत उसमें कटु संवेदनों से भी मधुर अनुभूति उपलब्ध होती है, समस्या को एक प्रकार से टाल देते हैं। अथवा उनके इस उत्तर पर भी यह कहा जा सकता है कि उन्होंने अनजाने रूप से आधुनिक शब्दावली में 'अनिर्वचनीयता' का ही प्रतिपादन कर डाला। कारण यह है पाश्चात्य विज्ञान का जन्म 'चर्च' के विरोध में होने के कारण वह अलौकिक, अनिर्वचनीय आदि जैसी चीजों को ज्यादा महत्त्व नहीं देता, वह उसमें धार्मिकता रूप अवैज्ञानिकता की गन्ध पाता है। विज्ञान प्रत्येक वस्तु को अपनी व्याख्या के अन्तर्गत लाने की चेष्टा कर अपनी विजय-दुन्दुभि का सिक्का जमाना चाहता है। फिर चाहे वह व्याख्या हास्यास्पद ही क्यों न हो जाये। रसानुभूति जैसी प्रक्रिया के सम्बन्ध में यह पूछे जाने पर कि यहाँ कारण के गुण कार्य में देखे जाने के व्यापक नियम का व्यतिक्रमण क्या हुआ—यह उत्तर देना कि व्यवधान होने से ऐसा हो गया, स्पष्ट तथा छिपे रूप से अनिर्वचनीयता का ही प्रतिपादन है।

प्राचीन आचार्यों ने रस की इस अनिर्वचनीयता में अध्यात्म की भी गन्ध पाई। अत वे इसके अध्यात्म पक्ष की ओर झुक गये और कह उठे कि काव्यानन्द ब्रह्मानन्द तो नहीं, पर ब्रह्मानन्द का सहोदर है। अत रस एक ओर ऐन्द्रियता की सीमा को स्पर्श करता है तो दूसरी ओर अध्यात्म से जा मिलता है। अत आनन्दमय ही होने से यह स्पष्टतया अलौकिक एवं अनिर्वचनीय है। उनकी दृष्टि में रस के स्वरूप की कुछ ऐसी विलक्षणता है जिसके कारण उसे किसी लौकिक शब्दावली की भाषा में नहीं बाँधा जा सकता। उन्होंने काव्यानन्द को अपनी तरह का एक ही पाया अत उसे लोकोत्तर चमत्कार-प्राण आदि कहा। अत हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्राचीनों ने रस के स्वरूप के स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में जो लोकोत्तर और अनिर्वचनीय आदि विशेषण कहे हैं वे ही उसका स्वरूप स्पष्ट कर जाते हैं। यह कहना कि "ऐसा

कहकर समस्या को सुलझाना नही, पलायन है" विशेषणो की गहराई तक न पहुँचना है । यदि विशेषणो की गहराई पर ध्यान दिया जाय तो समस्या सुलझी हुई दीखेगी ।

इन दोनो दृष्टिकोणो को तुलनात्मक रूप से देखा जाय तो हम इन 'परिणाम पर पहुँचते है कि इस का स्वरूप दोनो पक्षो में एक ही स्थिर किया गया है, अर्थात् इन्द्रियानन्द से कुछ अधिक और आध्यात्मिक आनन्द से कम । अन्तर केवल इतना है कि उस स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए जो शब्दावली ग्रहण की गई है वह भिन्न-भिन्न है ।

प्राचीनो नें रस-स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए जो विशिष्ट शब्दावली ग्रहण की है उसकी उपयुक्ता और वैज्ञानिकता निम्न दो कारणो मे और भी पुष्टि होती है —

(१) एक तो रस अनिवार्यत आनन्दमयी चेतना है। इस तथ्य की सिद्धि के लिए किसी लम्बे-चौडे तर्क की आवश्यकता नही । सभी का अनुभव है कि सत्काव्य के अनुशीलन या नाटक को देखने से आनन्द ही प्राप्त होता है । उस समय सासारिक द्विविधाओ में सलिप्त व्यक्ति भी सुखसागर में निमग्न हो नोन-तेल की चिन्ता-व्याधियो से मुक्त हो जाता है ।

(२) और दूसरे यह कि रस भाव से पृथक् है, इसी कारण करुण और वीभत्स रस क्रमश शोक और जुगुप्सा से पैदा होने पर भी ग्राह्य ही बने रहते हैं। इसी प्रकार श्रृ गार रस शारीरिक रति नही है । परन्तु इतना निश्चित है कि रस अपने भावो से सम्बद्ध अवश्य है, रतिभाव से श्रृंगार रस ही निष्पन्न हो सकता है ।

सक्षेपत यही कहा जा सकता है कि आधुनिक विद्वान् अपनी वैज्ञानिक शब्दावली में रस के जिस स्वरूप को प्रकट करते है, प्राचीन सस्कृत-साहित्य में उसी को एक अर्थगर्भित आध्यात्मिक शब्दावली में रखा गया है ।

अलंकार-सम्प्रदाय

मानव-मात्र में प्रेम, दया आदि मानसिक वृत्तियों, प्रकृति के नाना रूपो से उद्‌भूत मनोविकारों, परिस्थितिजन्य अनुभवो और विचारो, आकाक्षाओ एव कल्पनाओ को प्रकट करने और सुनने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इसके साथ ही सौन्दर्य-प्रियता की भावना भी सभ्य समाज में सर्वत्र पाई जाती है। इन स्वाभाविक प्रवृत्तियो के कारण हम अपने मनोभावो को सुन्दरता के साथ प्रकट करने के लिए यत्नशील होते हैं। परन्तु सभी व्यक्ति समान रूप से अपने भावो को आकलन करने एव उसमें छिपे रहस्य का भावन करने और उन्हे सौन्दर्य के साथ अभिव्यक्त करने में योग्य नही होते। कुछ व्यक्तियो में ऐसी स्वाभाविक प्रतिभा होती है, जिसके कारण वे उक्त-कार्य का सम्पादन ऐसे आकर्षक एव रुचिर ढग से करते है जिसके कारण वह सर्वप्रिय होता है। ऐसे ही व्यक्ति निसर्ग-सिद्ध कवि कहाते हैं। इनके कर्तृत्व के फलस्वरूप ससार में काव्य-लोक की सृष्टि सम्भव हुई है।

काव्य की प्रेरक प्रवृत्तियाँ और कवि

उक्त कथन से यह बात प्रकट होती है कि कवि मे भावुकता (भाव रूप रहस्यदर्शन का सामर्थ्य) और सौन्दर्य के साथ कह देने की विशेष क्षमता होती है। इसके आधार पर काव्य के दो पक्ष निश्चित किये जा सकते हैं —[१] एक तो भावपक्ष या अनुभूति-पक्ष और दूसरा [२] कलापक्ष। भावपक्ष में काव्य का अन्तर्निहित रहस्य या अनुभूति विशिष्ट आती है और कलापक्ष में उक्त अनुभूति को अभिव्यञ्जित करने का समग्र कौशल।

कवित्व के आधार पर काव्य के दो पक्ष

पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र की दृष्टि से काव्य के चार तत्त्व माने गये हैं—रागात्मकता, कल्पना, बौद्धिकता और कलात्मकता। कवि किसी रागात्मक भाव को कल्पना की सहायता से औचित्य एव सगतिपूर्वक कलामयी कृति के रूप में प्रस्तुत करता है। इसकी इस कृति म भी वस्तुत वे ही दो तत्त्व, भावपक्ष और कलापक्ष, ही झलकते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र-सम्मत कथित चार काव्यतत्त्व भी वस्तुत इन्ही दो पक्षो में समाहृत किये जा सकते है।

काव्य के उभय पक्षों में अन्य तत्त्वों का समाहार

हमारे यहाँ अलकार-शास्त्र का इतिहास देखने से पता चलता है कि रस, अलकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति सम्प्रदायो में काफी स्पर्धा रही है, और प्रत्येक वर्ग के आचार्यों का यह प्रयत्न रहा कि वे यह प्रमाणित कर सकें कि काव्य का मूलभूत तत्त्व या आत्मा उनके प्रतिपादन के अनुसार ही है। इन पांचो सम्प्रदायो के मूल में यह बात लक्षित होती है कि कोई आचार्य तो काव्यात्मा की खोज करते हुए कलापक्ष तक पहुँचे, कोई भावपक्ष तक और किन्ही ने दोनो पक्षो का समन्वित रूप ढूँढ निकाला। इनमें रस और ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्य भावपक्ष की तथा शेष कलापक्ष की मुख्यता में विश्वास रखते हैं। हमारा आशय निम्न कोष्ठक से प्रकट होगा।

भारतीय काव्यमतों का उक्त उभय पक्षों के साथ सम्बन्ध

पक्ष		आचार्य	मत
१ भावपक्ष	१	भरत, विश्वनाथ	रस काव्यात्मा है।
	२	आनन्दवर्धन	ध्वनि ,, ,,
२ कलापक्ष	३	दण्डी, भामह, केशव	अलकार ,, ,,
	४	कुन्तक	वक्रोक्ति ,, ,,
	५	वामन	रीति ,,

काव्य के मूल तत्त्वो की खोज करते समय—"काव्य में दो पक्ष—भावपक्ष और कलापक्ष—होते हैं" अथवा "काव्यात्मा ध्वनि या रसादि होते है" इन दोनो कथनो में कोई विशेष सैद्धान्तिक मतभेद नही है, केवल कहने का ढग अलग-अलग है। हाँ, काव्यात्मा का निर्देश करते समय ज़रा इस बात के स्पष्टीकरण का सयोग अधिक रहता है कि काव्य के उक्त दोनो पक्षो की मान्यता स्वीकार करते हुए भी इनमें भी प्राधान्य-गौणत्व का विवेक कर सकें। ऐसा होने से काव्य के सुसगत लक्षण के लिए एकमात्र आधार निश्चित रूप से हाथ लग सकता है, क्योकि हमारे यहाँ काव्य-लक्षण के लिए काव्यात्मा की खोज आवश्यक समझी गई है ताकि काव्य में भावपक्ष और कलापक्ष को समान नही, अपितु उचित स्थान प्राप्त हो सके।

विवेचन के दो प्रकार

कहना न होगा कि काव्य का वही लक्षण समीचीन हो सकता है जिसमें काव्य के उक्त उभय पक्षों को उचित सतुलन में रखा जा सके।

मम्मटाचार्य-कृत काव्य की परिभाषा—तपदोषौ शब्दार्थौ सगुणा-वनलंकृति पुन क्वापि—(दोष-रहित गुण वाली रचना चाहे वह सालकार न भी हो)—भावपक्ष और कलापक्ष को औचित्य प्रदान करने की दृष्टि से बड़ी शिथिल है। गुणवती कह देने मात्र से भावपक्ष का कथन तो हुआ ही नही (क्योकि गुण काव्यात्मा के धर्म है, काव्यात्मा नही), साथ ही कलात्मकता की भी कोई गारटी नही की गई, अपितु अलकारो के अभाव में भी काव्यत्व स्वीकार किया गया है। इसमें भावात्मक कलापक्ष का सर्वथा अभाव रहा। विश्वनाथ ने मम्मट के इस लक्षण की। अनेक प्रकार से तीव्र समालोचना कर "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" यह परिभाषा प्रस्तुत की, इनमें रसवत्ता का स्पष्टतया कथन कर काव्य के भावपक्ष या अनुभूतिपक्ष को पूर्णतया

भारतीय काव्य लक्षण

मान्यता प्रदान करते हुए भी कलापक्ष का नामोल्लेख तक नही किया । अत एकाकी ही रही । पण्डितराज जगन्नाथ की परिभाषा—**"रमणीयार्थप्रतिपादक: शब्द. काव्यम्"**—इससे कही व्यापक है। क्योकि रमणीय अर्थ के प्रतिपादन में शब्द को हर तरह से (कलात्मकरूपेण भी) उपयुक्त होना चाहिये, यह सकेत तो निकलता ही है । आनन्द-वर्धनाचार्य ने सीधा काव्यलक्षण न करके काव्यात्मा रूप ध्वनि (व्यग्यभूत अर्थ) पर ही जोर दिया । ध्वनि में भी रसध्वनि को सर्वथा विलक्षण [**तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम् । न त्वभिधेयत्व कथञ्चित्** (अत अन्वयव्यतिरेक से रसादि, वाच्य की सामर्थ्य से आक्षिप्त—ध्वनित—ही होते हैं। किसी भी अवस्था में वाच्य नही होते] बताते हुए श्रेष्ठ काव्य में रसत्व (रागतत्त्व या अनुभूतिपक्ष) और ध्वनित्व (व्यजनत्व अर्थात् कलापक्ष) दोनो को उचित रूप से आवश्यक ठहराया । इनकी कमी या अप्रधान्य के साथ-साथ काव्य का दर्जा भी कम किया गया । काव्य के उभय पक्षो का रसत्व और ध्वनित्व जैसे समर्थ एव व्यापक शब्दो में जिस खूबी के साथ कथन किया वह ध्वनि-सिद्धान्त की सर्वमान्यता के लिए वरदान सिद्ध हुआ । अस्तु ।

तो काव्य के स्वरूप के उद्घाटन में पण्डितराज जगन्नाथ का लक्षण और आनन्दवर्धन की काव्यात्मा की व्याख्या, हमारी कसौटी के अनुसार, सर्वाधिक समीचीन है। तदनुसार रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य माना गया है । रमणीय अर्थ के दो साधन हैं—[१] व्यञ्जना और [२] अलकार।

रमणीय अर्थ के दो साधन

इस प्रकरण में हमें अलकारो से सम्बन्धित अलकार-सम्प्रदाय की ही चर्चा करनी अभीष्ट है । अलकार वस्तुत भावो को व्यक्त करने अथवा रूप देने के सुघड सांचे है ।

अलकार का शाब्दिक अर्थ है—सौन्दर्य का साधन। "अलंकरोतीति" अलंकार अथवा "अलंक्रियतेऽनेन" इत्यलंकारः ये दो व्युत्पत्तियां की जाती हैं। प्रथम व्युत्पत्ति में अलकार सौन्दर्य का विधायक और दूसरी में साधन ठहरता है। दोनो का आशय एक ही है। फिर भी ये दोनो व्युत्पत्तियां अलकार-सम्प्रदाय के ऐतिहासिक विकास-क्रम की ओर निर्देश करती हैं। ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के पूर्व कम-से-कम श्रव्य काव्य के क्षेत्र में तो अलकार-सम्प्रदाय का ही एकच्छत्र राज्य था। अलकारो को काव्य की शोभा का विधायक समझा जाता था। उस समय दण्डीकृत निम्न परिभाषा का ही बोल-वाला था—

अलकार का शाब्दिक अर्थ

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।

"अलकार काव्य के शोभाकारक धर्म हैं।" इस परिभाषा से अलकारो के सम्बन्ध में निम्न दो बातो पर प्रकाश पड़ता है—

[१] काव्य में जो सौन्दर्य है उसका कारण एकमात्र अलकार ही हैं। वे ही शोभा के विधायक हैं।

[२] और चूंकि काव्य में सौन्दर्य रहता ही है अत उसके कारण-भूत अलकार भी अवश्य उपस्थित रहेगे। इसका मतलब हुआ कि अलकार काव्य के नित्य धर्म हैं।

ध्वनिकार ने जब काव्यात्मा ध्वनि को स्थिर कर दिया तो अलकारो से सम्बन्धित धारणाओ की जडे हिल गईं। उन्होंने अलकारो और गुणो में भेद बताते हुए काव्य के शरीर-भूत शब्द अर्थ के अस्थिर धर्म के रूप में इन्हें स्वीकार किया। ध्वनिकार के अनुसार अलकार के सम्बन्ध में निम्न मान्यताएँ स्वीकृत की गईं।

[१] काव्य के शरीर-भूत शब्द अर्थ के उपकारक होने से अलकार काव्यात्मा के परम्परया उपकारक है।

[२] अलकार काव्य के नित्य धर्म नही, वे अस्थिर धर्म है। उनके बिना भी काव्यत्व देखा जाता है।

[३] अलकार काव्य की शोभा की सृष्टि नही करते, उसे बढा ही सकते है।

इस प्रकार अलकारो को काव्य-शोभा के विधायक की जगह साधन माना जाने लगा। इसी आधार पर परवर्ती आचार्य विश्वनाथ ने अलकारो का लक्षण निम्न प्रकार किया—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा शोभातिशायिन ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥

"शोभा को बढाने वाले और रसादि के उपकारक जो शब्द अर्थ के अनित्य धर्म है वे अङ्गद (आभूषणविशेष) आदि की तरह अलकार कहाते हैं।"

भामह ने अलकारो को काव्य का प्राण बताते हुए अलकारो की भी आत्मा वक्रोक्ति को माना है। इसके विपरीत दण्डी ने अलकारो की प्रेरक शक्ति, अतिशयोक्ति को ठहराया है।

अलकारों की मूल प्रेरणा क्या है?

विचार करने पर ज्ञात होता है कि अलकारो की आत्मा या मूल प्रवृत्ति की खोज करते हुए दोनो आचार्य प्राय एक ही तत्त्व पर पहुँचे थे। नाम का भेद होते हुए भी दोनो का आशय एक ही वस्तु से है। भामह की वक्रोक्ति अतिशय ही है। इसी बात का निर्देश 'काव्यप्रकाश' की टीका में किया गया है—

"एवं चातिशयोक्तिरिति वक्रोक्तिरिति पर्याय इति बोध्यम्।"

जिस तरह लोक में आत्मोत्कर्ष के प्रदर्शन के लिए स्त्रियाँ आभूषण धारण करती हैं या पुरुष अपने को वस्त्रादिको से सजाते है उसी तरह

मन के उत्कर्ष या अतिशय की अभिव्यक्ति का साधन वाणी के अलकार हैं। मन के उत्कर्ष का आशय है भावोद्दीप्ति की अवस्था। जब हमारे भाव उद्दीप्त हो जाते हैं तो शरीर के रोम-रोम में आवेग या अतिशय प्रस्फुटित होने लगता है। यही आवेग वाणी के माध्यम में अलकारो का रूप धारण कर लेता है। साराश यह है कि भावोद्दीपन के कारण हमारी वाणी स्वाभाविक रूप से अलकृत (अतिशयित) हो जाती है, क्योकि ऐसा करने से भीतर के मानसिक विस्फार या अतिशय का वाह्य रूप से प्रदर्शन हो जाता है, जिससे हमे तुष्टि प्राप्त होती है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी, भामह और दण्डी का यह अभिमत कि अलकारो का प्राण अतिशयोक्ति है, ठीक है। यही तथ्य 'काव्यप्रकाश' में भी स्वीकार किया गया है—

"सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेमावतिष्ठते। तां विना प्रायेणालकारत्वायोगात्।"

अलकारों का मनोवैज्ञानिक आधार और वर्गीकरण

अलकारो के विकास को देखते हुए यह मालूम पडता है कि उनकी विषम-सीमा तथा संख्या सर्वथा अनिश्चित-सी है। भरत ने केवल चार अलकारो का उल्लेख किया है, जबकि मम्मट ने यह सख्या ७० तक पहुँचा दी। ऐसी अवस्था में अलकारो में समन्वय के सूत्र की खोज सर्वथा स्वाभाविक थी। इस दिशा में सर्वप्रथम रुद्रट् ने अलकारो का वर्गीकरण वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर किया। यद्यपि रुद्रट् का यह वर्ग-विभाजन सर्वथा वैज्ञानिक नही था तो भी उनका प्रयत्न एक सुष्ठु दिशा का निर्देशक बन सका। बाद में रुय्यक ने अलकारो के सात वर्ग बनाये —

[१] सादृश्यमूलक (उपमा, रूपक आदि)।
[२] विरोधमूलक (विरोध, विभावना आदि)।
[३] शृङ्खलाबन्धक (कारणमाला, एकावली आदि)।

[४] तर्कन्यायमूलक (काव्यलिङ्ग, अनुमान आदि)।
[५] काव्यन्यायमूलक (यथासख्य, पर्याय आदि)।
[६] लोकन्यायमूलक (प्रत्यनीक, प्रतीप आदि)।
[७] गूढार्थप्रतीतिमूलक (सूक्ष्म, व्याजोक्ति आदि)।
ये अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं।

विश्वनाथ और विद्याधर ने इनमें कुछ सशोधन करने का यत्न किया। और अब भी आधुनिक विद्वान् इस दिशा में प्रयत्नशील हैं। सुब्रह्मण्य शर्मा और श्री ब्रजरत्न जी ने क्रमशः आठ और पाँच वर्ग निश्चित किये हैं। परन्तु वर्गीकरण के ये सभी प्रयत्न सन्तोषजनक सिद्ध न हो सके। इस असफलता का कारण यह समझा जा सकता है कि अलकारो के स्वरूप-निर्धारक उपादानो का क्षेत्र ही अपने आपमें विविध विषयक एव असीमित हैं। उदाहरणार्थ हम देखते है कि कुछ अलकार काव्य-शैली से सम्बन्ध रखते हैं तो दूसरे तर्क और न्याय का आश्रय लेते है।

डा० नगेन्द्र ने 'रीतिकाव्य की भूमिका' मे विवेचन करते हुए, अलकारो का प्रयोग किसलिए करते हैं, इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि—"उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए।" उनके मत में उक्ति को प्रभावशाली बनाने के छ प्रकार हैं—स्पष्टता के लिए साधर्म्य, विस्तार के लिए अतिशय, आश्चर्य के लिए वैषम्य, अन्विति के लिए औचित्य, जिज्ञासा के लिए वक्रता और कौतूहल के लिए चमत्कार-मूलक अलकारो का प्रयोग। तदनुसार—"अलकारो के ये ही मनोवैज्ञानिक आधार है।"

यह बात स्पष्ट है कि अलकारो की सख्या निश्चित नही की जा सकती, क्योंकि उनके उपादानो का क्षेत्र ही असीमित है—(**अनन्ता हि वाग्विकल्पाः। तत्प्रकारा एव अलकारा—ध्वन्यालोक।**) ऐसी अवस्था में वर्गीकरण के लिए सर्वथा युक्तियुक्त और परिपूर्ण आधारो को

खोज निकालना एक प्रकार से असम्भव ही है। और यदि वे आधार भी अलकारो की सख्या की तरह अनिश्चित होते चले जायें तो उनका ढूढना ही निष्प्रयोजन है। इन कारणो से वर्गीकरण के सभी प्रयत्न असन्तोष-जनक हो तो कोई आश्चर्य नही। इस दिशा मे हमारी जिज्ञासा की सन्तुष्टि का एकमात्र यही आधार हो सकता है कि अलकारमात्र के मूल में भावोद्दीप्ति या अतिशय ही रहता है। आद्याचार्य भामह और दण्डी ने भी इतने से ही सन्तोष किया था।

अलकारो का प्रयोग किसलिए करते है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए।

काव्य में अलंकारों का स्थान

प्रभावोत्पादन की आवश्यकता काव्य में ही नही अपितु व्यवहार में भी रहती है। सर्वसाधारण लोग भी अपने रात-दिन के काम-काज में अपनी वाणी को सबल बनाने के लिए अलकारो का प्रयोग करते है। किसी लीडर की प्रशसा में—"आप मनुष्य नही देवता है" ऐसा कहा ही जाता है। इसी प्रकार "साम्राज्यवाद की चक्की में देश पिस रहा था" आदि वाक्य पार्टी-प्रोपेगण्डा के सिलसिले मे अक्सर कान में पडते रहते है।

परन्तु इसके आगे, काव्य में अलकारो का प्रयोग क्यो किया जाता है, जब यह प्रश्न सामने आता है तो केवल "प्रभावोत्पादन के लिए" इतनाभर कहना पर्याप्त नही। प्रभावोत्पादकता की खोजबीन भी आवश्यक हो जाती है। अलकारो के द्वारा काव्य में बहुत कुछ सिद्ध होता है। सौन्दर्य काव्य में खास वस्तु है। चित्रण को स्पष्टता देने की भी आवश्यकता पड ही जाती है, इत्यादि। अत हमें कहना पडेगा कि अलकारो के द्वारा काव्य में सौन्दर्य, स्पष्टता और प्रभावोत्पादन आदि सभी की अभिवृद्धि लक्ष्य रहता है। शुक्ल जी अलकारो का लक्षण करते हुए उनके प्रयोग के क्षेत्र की विविधता की ओर निर्देश करते हैं—

"वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी-कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढाकर दिखाना पडता है, कभी उसके रूप-रग या गुण की भावना को उसी प्रकार के और रूप-रग मिलाकर तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्म वाली और-और वस्तुओ को सामने लाकर रखना पडता है। कभी-कभी बात को घुमा-फिराकर भी कहना पडता है। इस तरह के भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढग अलकार कहाते है।" अब एक उदाहरण लेते हैं—

> अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुर सर.।
> अहो दैवगति कीदृक् तथापि न समागम ॥

"सन्ध्या (या नायिका) लालिमा (पक्षान्तर में अनुराग या प्रीति) से युक्त है और दिवस (अथवा नायक) उसके सामने ही बढा आ रहा है (सामने आ रहा है), पर ओहो! दैवगति कैसी है कि फिर भी उनका मिलन (समागम) नही होता।"

यहाँ समासोक्ति अलकार के द्वारा अप्रस्तुत जो नायक-नायिका-गत व्यवहार प्रतीत होता है उसके कारण उक्ति में सौन्दर्य आ गया है। और समान विशेषणो की महिमा से नायक-नायिका की विरह-गति मूर्त हो उठी है, जिससे चित्र में स्पष्टता आ गई है।

इसी प्रकार सूर्योदय के दो प्रसिद्ध चित्र अपनी नवस्फूर्तिमयी उद्बोधक आभा बिखेरने के कारण प्रशसनीय हैं —

> सखि! नील नभस्सर में उतरा
> यह हंस अहा! तरता-तरता,
> अब तारक मौक्तिक शेष नहीं
> निकला जिनको चरता-चरता।
> अपने हिम-बिन्दु बचे तब भी,
> चलता उनको धरता-धरता

गड़ जायँ न कण्टक भूतल के
कर डाल रह डरता-डरता।
—मैथिलीशरण गुप्त

यहां श्लिष्ट-परम्परित-रूपकालकार ने प्रात कालीन सूर्य में राजहस की सम्पूर्ण शोभा सन्चित कर दी है।

बीती विभावरी, जाग री
अम्बर पनघट में डुबा रही,
तारा-घट ऊषा-नागरी। —जयशंकरप्रसाद

रूपक अलकार के सामर्थ्य से ऊषा ने जो विदग्ध-सुन्दरी का रूप धारण कर लिया है उससे सम्पूर्ण वातावरण सजीव हो उठा है, और प्रात कालीन कलरव स्पष्ट सुनाई देता है।

अलकार की प्रभावोत्पादकता इस वात में होती है कि वह कवि के भावो को श्रोता के मन तक कितने वेग मे प्रेपणीय वना देती है। श्रोता के मन में भी कवि के भाव उतनी ही तीव्रता से उवाल खा जायँ इसके लिए वस्तु का 'विम्व-ग्रहण' कराना होगा। यह कार्य भी अलकारो द्वारा वडी उत्तमता से सम्पन्न होता है, जैसे—

नव प्रभा-परमोज्ज्वल लीक सी,
गतिमती कुटिला फणिनी समा।
दमकती दुरती घन अंक में,
विपुल केलि कला खानि दामिनी॥—हरिऔध

'दमकती दामिनी' का विम्व 'गतिमती-कुटिला-सर्पिणी' के द्वारा श्रोता के मानस-पटल पर विद्युतगति से ही चमक उठता है, क्योकि दामिनी की तरह सर्पिणी भी कुटिल-गति-धर्मा और आतक-परिपूर्णा है।

उक्त विवेचन के साथ-साथ यह प्रश्न भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि क्या काव्य में अलकार अनिवार्य है?

कलापक्ष को ही प्रधान्य देने वाले अलकार-साम्प्रदायिकों की तो मान्यता है कि काव्य में अलकार आवश्यक है, उनके बिना काव्यत्व सम्भव नही। अर्थात् अलकार काव्य के नित्य-धर्म ही हैं। जयदेव ने 'चन्द्रालोक' में साग्रह प्रश्न किया—

क्या काव्य में अलकार अनिवार्य हैं ?

अंगीकरोति य. काव्यं शब्दार्थावनलकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलकृती ?

रस-भावादि का तत्त्व समझने वाले आचार्यों के लिए इसका उत्तर स्पष्ट था। उन्होंने न केवल अलकारो का ही, अपितु अलकार्य (रस) का भी पता पा लिया था। भाव के अभाव में वे किसी प्रकार भी काव्यत्व नही स्वीकार कर सकते। क्या लोक-व्यवहार में पाई जाने वाली लच्छेदार और अलकृत बातचीत काव्य कही जा सकती है ? क्या मुर्दे को अलकार धारण करवाकर सजीवना प्रदान की जा सकती है ? यदि नही, तो रस-भाव रूप आत्मा के बिना काव्यत्व कैसे ' वह भी असम्भव है—"**तथा हि अचेतन शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलंकार्यस्याभावात्** (अभिनवगुप्त)।"

काव्यत्व का मूल कारण अलकारत्व नही, इस तथ्य को दूसरी तरह भी कह सकते हैं। सच्चे कवि में प्रतिभा होती है – "**प्रतिभैव च कवीनां काव्यकरणकारणम्**" (**अलंकारतिलक**)। इसके बल पर वह [१] पदार्थ में निहित गूढ सौन्दर्य को देखता है और [२] उस असामान्य सौन्दर्य का उद्घाटन कर सर्वसाधारण तक पहुँचाता है, अर्थात् उसे प्रेषणीयता प्रदान करता है। डा० काणे नें भी लिखा है—"A poet is one who is seer, a prophet, who sees visions and possesses the additional gifts of conveying to others." (साहित्यदर्पण की भूमिका)। जब कवि गूढ सौन्दर्य का दर्शन कर चुकता है तो वही सौन्दर्य वाग्धारा-रूप में प्रवाहित

होने लगता है। यदि सौन्दर्य की अनुभूति न हो तो प्रवाहित ही क्या किया जा सकता है—यह सर्वथा स्पष्ट है। अत काव्य के मूल में सर्वप्रथम सत्य, सौन्दर्य, अनुभूति या भाव ही होता है। यही काव्य का प्राण है। इसी से काव्य में सजीवता आती है। सद्-भाव से प्राणवान् काव्य को अलकार सजा सकते हैं, उसकी शोभा को बढा सकते हैं। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि अलकार काव्य के अनित्य धर्म है।

पहले यह स्पष्ट किया जा चुका है कि रस का उल्लेख भरत ने वाचिक अभिनय के रूप में किया है। अत ऐसा ज्ञात होता है कि परवर्ती कतिपय आचार्यों ने उसका सम्बन्ध नाटक तक ही सीमित समझा। अत हम देखते हैं कि पाँचवी-छठी शताब्दी में भामह और दण्डी आदि जो आचार्य हुए, यद्यपि वे रस-सिद्धान्त से परिचित थे तो भी उन्होंने अलकार को काव्यात्मा स्वीकार किया। यद्यपि भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र में चार अलकारो—उपमा, रूपक, दीपक और यमक का उल्लेख किया है तो भी अलकारो का सर्वप्रथम वैज्ञानिक विवेचन भामह के काव्यालकार में ही मिलता है। इस प्रकार भामह अलकार-सम्प्रदाय के आद्याचार्य हुए। परन्तु एक बात ध्यान में रखने की है, भामह का अलकार सम्बन्धी विवेचन इतना प्रौढ है कि अलकारो के विवेचन की परम्परा इनसे पहिले की चली आती हुई प्रतीत होती है। नाट्यशास्त्र में 'अलकार' तो है ही, भामह ने स्वय भी मेधाविन् नामक पूर्वाचार्य का सादर उल्लेख किया है। इसी प्रकार भट्टिकाव्य, जो एक व्याकरण का ग्रन्थ है, में भी ३८ अलकारो का उल्लेख है। यह भी भामह से पहले का ग्रन्थ है। इन सब बातो से उक्त धारणा की पुष्टि सम्यक्तया होती है।

अलकार-सम्प्रदाय का इतिहास

भामह के पश्चात् आचार्य दण्डी ने अलकारों के ऊपर 'काव्यादर्श' की रचना की। दण्डी की विशेषता यह है कि उन्होंने—"काव्यशोभाकरान्

धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते"—कहकर अलकारो को असन्दिग्ध रूप में काव्य का शोभाविधायक माना। भामह ने ३८ अलकारो का तथा दण्डी ने ३५ का उल्लेख किया। परन्तु रसो को दोनो आचार्यो ने रसवत्, प्रेयस, ऊर्जस्वित और समाहित नामक अलकारो के अन्तर्गत माना। यद्यपि ये आचार्य रस-सिद्धान्त से परिचित थे तो भी काव्यमात्र में रस का उचित स्थान निर्धारित नही कर सके। उन्हे काव्य में सबसे महत्त्वपूर्ण अलकार ही प्रतीत हुए। अत उन्होने रस को अलकारो के अन्तर्गत लाने की चेष्टा की। उनके अनुसार रसवदलकारो का कोष्ठक निम्न है —

रसवदल-कार
- [१] जहाँ रस परिलक्षित होते है वहाँ रसवदलकार होता है।
- [२] जहाँ भाव ,, ,, प्रेयस अलकार ,, ,,
- [३] जहाँ { रसाभास / भावाभास } ,, ,, ऊर्जस्वित ,, ,,
- [४] जहाँ { भावशान्ति / भावोदय / भावसन्धि / भावशवलता } ,, ,, समाहित ,, ,,

ध्वनिवादियो ने रसवदादि अलकारो के सम्बन्ध में यह सशोधन किया कि जहाँ रस (रस्यते इति रस इस व्युत्पत्ति के आधार पर रस, भाव, तदाभास और भावशान्त्यादि चारो रस कहाते हैं) किसी अन्य के अ ग रूप में प्रतीत होते हैं वहाँ पर ही रसादि (ध्वनि रूप न होकर) रसवदलकार के अन्तर्गत हैं, सर्वत्र नही। अस्तु।

भामह ने अलकार शब्द को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए रचना एव कल्पना के सौन्दर्य को काव्यात्मा कहा। उनके मत में वक्रोक्ति (काव्यात्मक अभिव्यजना), जो अलकार के मूल में रहती है, से रचना और कल्पना दोनो के सौन्दर्य की समृद्धि होती है—

सैवा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते,
यत्नोऽस्या कविना कार्य: कोऽलंकारोऽनया विना। काव्यालंकार

परन्तु भामह के विपरीत दण्डी ने वक्रोक्ति के स्थान पर अतिशय को अलकार की आत्मा कहा—

अलंकारान्तराणामप्येकमाहु: परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमातिशयाह्वयाम्॥ काव्यादर्श॥

जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि दण्डी का अतिशय और भामह की वक्रोक्ति एक ही तत्त्व के प्रतिपादक है।

भामह के मत के प्रमुख व्याख्याता उद्भट हुए। इन्होने 'भामह-विवरण" लिखा और दृष्टान्त, काव्यलिंग आदि अलकारो की उद्भावना की। इसके बाद आचार्य रुद्रट् हुए। इन्होंने अत्यधिक महत्त्व के कार्य किये—[१] एक तो अलकारो के वर्गीकरण की परिपाटी डाली और दूसरे [२] रस और भाव आदि को अलकारो के अन्दर ही समाहृत करने की प्रमुख भूल का निराकरण किया। इन्होंने अपने समकालीन विभिन्न मतो का अच्छा अध्ययन भी किया था। ये ही सर्वप्रथम आचार्य हुए जिन्होंने 'रस' का विवेचन काव्यशास्त्र के ग्रन्थो में किया। इसमे पूर्व के ग्रन्थकार रस को नाटक का विषय मानकर छोड देते थे।

अलकार-सम्प्रदाय के पीछे अभी तक यह दृष्टि रही कि काव्य को चमत्कृत करने वाली सभी विशेषताओ का सग्रह किया जाए। उन विशेषताओ में परस्पर भेद करने की चेष्टा नही की गई और ना ही सूक्ष्मता से यह देखा गया कि काव्य और प्रसाधन-सामग्री का सम्बन्ध क्या है। परन्तु रुद्रट् के पश्चात् ध्वनि के आत्मा-रूप में सामने आने पर यह स्पष्ट हो गया कि आन्तरिक गुणो और बाह्य आभूषणो में भेद होता है। इसलिए माधुर्यादि गुणो तथा उपमादि अलकारो में भेद है। इसके साथ यह भी मालूम हो गया कि अलंकारो के अन्तर्गत सभी

प्रसाधनो को समाहृत करने की चेष्टा व्यर्थ है। शब्द और अर्थ की शोभा की वृद्धि करने वाले उपाय ही अलकार हो सकते है, गुण अलकार नही। इससे पूर्व अलकारवादी गुण और अलकारो को एक ही समझते थे—
"उद्भटादिभिस्तु गुणालकाराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम्।"

इस सबका परिणाम यह हुआ कि अलकारो की स्थिति के सम्बन्ध में यह निश्चित मत कि वे काव्य के अनिवार्य अ ग नही हैं, स्पष्ट हो गया। और इसके बाद परवर्ती आचार्यो ने ऐसा ही सम्पुष्ट किया। आचार्य मम्मट व विश्वनाथ ने स्पष्ट रूप से उद्घोषित किया कि अलकार काव्य के अस्थिर धर्म है। वे रस के उपकारक होकर ही महत्त्व पा सकते है।

अन्त में रुय्यक ने 'अलकारसर्वस्व' की रचना की, जिसमें अलकारो के वर्गीकरण का परिष्कार करते हुए नए ढग से छ आधार ढूँढे।

हिन्दी को अलकारशास्त्र की मम्मट और विश्वनाथ वाली समन्वित परम्परा ही मिली, जिसमें इनका महत्व सर्वोपरि सुस्थिर हो चुका था। तो भी केशव-जैसे अलकारवादी हिन्दी में मिल ही जाते हैं—

> जदपि जाति सुलच्छिनी, सुबरन, सरस सुवृत्त।
> भूषन बिन न बिराजहीं, कविता, बनिता, मित्त॥

रीति-सम्प्रदाय

'रीति-सम्प्रदाय' के प्रमुख व्याख्याता वामन हुए है। उन्होने 'काव्यालकारसूत्र की रचना की, जिसके अनुसार 'रीति' को काव्यात्मा माना गया। रीति के स्वरूप-निर्धारक सूत्र निम्न प्रकार है —

वामन द्वारा प्रतिपादित रीति का स्वरूप और लक्षण

(*i*) रीतिरात्मा काव्यस्य ॥२।६॥

काव्यात्मा रीति है, अर्थात् काव्य-सौन्दर्य का मूल कारण 'रीति' है।

रीति क्या है ?

(*ii*) विशिष्टा पदरचना रीति ॥१।२।७॥

विशिष्ट पदरचना ही रीति (आधुनिक शब्दावली में शैली कह सकते हैं) है। पदरचना में वैशिष्ट्य कैसे आता है ?

(*iii*) विशेषो गुणात्मा ॥१।२ ८॥

पद-रचना का वैशिष्ट्य उसकी गुणात्मकता में है। अत गुणात्मक पदरचना का नाम 'रीति' है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि पदरचना का वैशिष्ट्य विभिन्न गुणो के सश्लेषण के आश्रित है। इसलिए गुणो की खोज भी आवश्यक है। गुणो के साथ दोषो का लेखा-जोखा लगा ही रहता है। गुणो के सम्बन्ध में उनका मन्तव्य है —

काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणाः।
तदतिशयहेतवस्त्वलकारा ॥

काव्य की शोभा के विधायक-धर्म 'गुण' है, और उस शोभा के वृद्धिकारक हेतु अलकार होते हैं। अत गुणो और अलकारो में स्पष्ट

रूप से भेद है। गुण नित्य-धर्म हैं और अलकार अनित्य, क्योंकि अकेले गुण पदरचना में वैशिष्ट्य ला सकते है, परन्तु केवल अलकार नही।

इस प्रकार उन्होंने गुणो को नित्य मानकर शब्द और अर्थ के क्रमश· दस-दस गुण बताये, शब्द-गुणो और अर्थ-गुणो के नाम एक ही है, परन्तु लक्षण भिन्न-भिन्न— ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, अर्थव्यक्ति, कान्ति। इन गुणो के विरोध में आने वालो को दोष माना। उन्हें वे गुणो का विपर्यय कहते हैं— "**गुणविपर्यात्मनो दोषा**"। अर्थात् उन्होंने दोषो की कोई भावात्मक स्थिति स्वीकार नही की। गुणो के अभाव को वे दोष मानते हैं।

रीतियाँ भी तीन है— (१) वैदर्भी (२) गौडी (३) पाञ्चाली। वामन के अनुसार वैदर्भी में दसो गुणो का समावेश रहता है, जबकि गौडी और पाञ्चाली में क्रमश ओज व कान्ति और माधुर्य व सौकुमार्य इन दो-दो गुणो का महत्त्व है। रीतियो के नामकरण के विषय में लिखते हुये वह इस शका का निवारण भी कर देते है कि प्रदेशविशेष से काव्य का वैसा सीधा कोई सम्बन्ध नही है—

विदर्भादिषु दृष्टत्वात्तत्समाख्या।।१।२।१०।।

केवल विदर्भादि देशो में वैसी रीति का विशेषतया प्रचलन होने के कारण उस प्रकार का नाम रखा गया है। —"**विदर्भगौडपाञ्चालेषु देशेषु तत्रत्यै कविभिर्यथास्वरूपमुपलब्धत्वाद्देशसमाख्या। न पुनर्देशै किञ्चिदुपक्रियते काव्यानाम्।**"—**वृत्ति**॥

सक्षेपत वामनाचार्य का मन्तव्य यह है कि काव्य के सौन्दर्य का मूल कारण रीति है, और रीति पदरचना का वह प्रकार है जिसमें दोषो का अभाव, अलकारो का सामान्यतया प्रयोग और गुणो का अनिवार्यरूपेण समावेश हो। तो, वामनाचार्य का प्रधान कर्तृत्व निम्न प्रकार हुआ —

(i) इन्होंने साहस के साथ रीति को काव्यात्मा उद्घोषित किया, और तीन रीतियाँ मानी, जो परवर्ती आचार्यों द्वारा भी स्वीकृत की गई।

(ii) इन्होंने गुणो और अलकारो में भेद प्रतिपादित किया।

(iii) दोषो की भावात्मक सत्ता स्वीकार नही की। इसे परवर्ती आचार्यों ने अमान्य ठहराया।

(iv) वक्रोक्ति को अर्थालकारो में शामिल किया।

(v) वामन द्वारा रीति के प्रतिपादन से स्पष्ट होता है कि उनकी पहुँच प्रधानतया काव्य के वाह्याङ्ग तक ही रही। परन्तु अन्तरङ्ग सर्वथा अछूता रहा हो, सो नही। क्योंकि उन्होंने अर्थ-गुण कान्ति में रस की दीप्ति अनिवार्य मानी है—"दीप्तरसत्व कान्तिः" ॥३।२।१४॥

आचार्य वामन ने अपने 'काव्यालकारसूत्र" ग्रन्थ का प्रणयन ८वी शताव्दी में किया। इससे यह न समझना चाहिए कि रीति-विषयक विचार का श्रीगणेश यही से प्रारम्भ होता है।

रीति-सम्प्रदाय का इतिहास

वस्तुत रीति की परम्परा रस और अलकार सम्प्रदायो की तरह ही पुरातन काल से चली आने वाली है। वामन ने तो रीति को काव्यात्मा के रूप में स्वीकार कर प्रथम कोटि का महत्त्व प्रदान करना चाहा। 'रीङ्' धातु से 'क्ति' प्रत्यय करने पर "रीति" शव्द सिद्ध होता है। इसका अर्थ हुआ—गति, पद्धित, प्रणाली या मार्ग आदि। इस 'रीति' शव्द का प्रयोग भी सर्वप्रथम वामन ने ही किया है, दूसरे आचार्य मार्ग आदि शव्दो द्वारा रीति का प्रतिपादन करते रहे। जैसे दण्डी ने—

> अस्त्यनेको गिरा मार्गः सूक्ष्मभेद परस्परम्।
> तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥काव्यादर्श॥

वामन-मतानुसार गुण रीति के मूल तत्त्व । दण्डी की भी यही मान्यता थी। इन गुणो का विवेचन तो भरत के नाटचशास्त्र में मौजूद है, परन्तु रीति के विषय में उन्होने कुछ भी नही लिखा। भरत की दृष्टि में दोषाभाव रूप दस गुण होते हैं। इस प्रकार के दोषो के अभाव से दस गुण माने, उनकी सत्ता अभावात्मक है। गुण और दोषो के सम्वन्ध में भरत और वामन का दृष्टिकोण सर्वथा विपरीत है। भरत दोषो को भावात्मक (Positive) मानते हुए गुणो को अभावात्मक (Negative) मानते है। जवकि वामन का मत है कि दोप अभावात्मक है और गुण भावात्मक। परन्तु विचार करने पर गुण और दोप दोनो की ही भावात्मक सत्ता मान्य ठहरती है। गुणो का अभाव होने से दोप नही गिनाये जा सकते और न ही दोषो के न होने से गुणवत्ता दीखती है। लोक में भी गुण-दोषो, दोनो की भावात्मक सत्ता स्वीकृत है। इसी विचार से परवर्ती आचार्यों ने गुणो और दोषो दोनो को भावात्मक माना। दोषो की सख्या वढते-वढते सत्तर तक पहुँची। अस्तु!

भरत का गुण-विषयक श्लोक यह है—

श्लेष. प्रसाद' समता समाधिर्माधुर्यमोज. पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते॥
—नाट्यशास्त्र॥

भरत नें शब्द-गुणो तथा अर्थ-गुणो की पृथक्ता के सम्बन्ध में भी कोई निर्देश नही दिया। इनके बाद भामह ने रीति का उल्लेख तो किया परन्तु उसे कोई महत्त्व प्रदान नही किया। उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का मूल तत्त्व प्रतिपादित करते हुए गुणा को सख्या—माधुर्य, ओज और प्रसाद—इन तीन के ही अन्तर्गत सीमित कर दी। बाद को ये ही तीन गुण भारतीय काव्यशास्त्र में प्रामाणिक रूप से प्रतिष्ठित हुये।

दण्डी ने रीति का विस्तृत विवेचन वैदर्भ और गौड इन दो मार्गों के रूप में किया, पर अलकारो और गुणो में स्पष्ट भेद न कर सके, तथा

दस गुणो को प्राय भरत के अनुकरण में ही स्वीकार कर लिया। इस-लिए भरत की तरह दण्डी का गुण-विवेचन भी अस्पष्ट ही रहा। शब्द-गुणो और अर्थ-गुणो का भेद भी इन्होने नही किया। इसके अतिरिक्त इनका यह भी ख्याल था कि वैदर्भ-मार्ग या रीति के दसो गुण मूल तत्त्व होते है, और उन गुणो का अभाव गौडीय रीति मे पाया जाता है।

वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणा स्मृता ।
एषां विपयय प्रायो दृश्यते गौड़वर्त्मनि ॥

परन्तु दण्डी का यह विचार उचित नही, क्योकि ओज गुण वैदर्भी रीति के गद्य में तो आवश्यक है परन्तु पद्य मे नही जबकि गौडीय मार्ग मे ओज पद्य में भी सर्वोपरि स्थान रखता है। दण्डी ने दोपो की सख्या भी भरत की तरह दस मानी है। भामह के ग्यारहवें दोप को उन्होने अव्यक्त माना।

आचार्य वामन अपने मन्तव्य को साहस और स्पष्टता के साथ कहना जानते थे। अतएव ये स्वतन्त्र रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक हो सके। भरत और दण्डी के अनुकरण का पल्ला न पकडकर इन्होने अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तो को तर्क का सहारा दिया। दो की जगह तीन रीतियाँ मानी। गुण और अलकारो में भेद कर गुणो का स्पष्ट विवेचन किया। शब्द और अर्थ के दस गुण माने, जिनका नाम दोनो जगह एक ही है, परन्तु लक्षण भिन्न-भिन्न होता है। इस दृष्टि मे वामन का कर्तृत्व क्रान्तिकारी था। उन्होने अन्य आलकारिको की तरह 'रस' को अलकारो के अन्तर्गत समाविष्ट न र अर्थ-गुण कान्ति मे रखा। यद्यपि परवर्ती आचार्यों को वामन के मत में अनेक प्रकार की त्रुटियाँ मालूम हुई तो भी काव्य-बाह्याङ्ग के विवेचन और स्वतन्त्र उद्भावनाएँ करने की उनकी प्रवृत्ति का लोहा स्वीकार करना ही पडता है।

वामन की तीन रीतियो के साथ रुद्रट् ने चौथी 'लाटी' रीति

को भी लाकर खडा किया, परन्तु इसका विशेष महत्त्व न जँचा। इसके पश्चात् ध्वनिवादियो के तर्कों ने 'अलकार्य' और 'अलकार' का स्पष्ट भेद उपस्थित कर सोचने की धारा को ही बदल दिया। अलकार्य (काव्यात्मा-रूप ध्वनि) की सर्वोपरि महत्ता स्थापित होने से रीति-सम्प्रदाय भी, अलकार-सम्प्रदाय की तरह बाह्याङ्गदर्शी-मात्र होकर **"उत्कर्षहेतव प्रोक्ता· गुणालकाररीतय (साहित्यदर्पण)"** के अनुसार रसोत्कर्ष के हेतुओ की कोटि में जा पडा। ध्वनिवादियो ने रीति को बाह्य रूप की शोभा का उपादान मानते हुए "वाच्य-वाचक-चारुत्व-हेतु" कहा। रीति की केवल इतनी ही उपयोगिता मानी गई कि वह रस-परिपाक में सहायक होती है। अभिनवगुप्त ने तो अलकारो और गुणो के रहते रीति की पृथक् सत्ता को ही अनावश्यक ठहराया। इसके अतिरिक्त ध्वनिवादियो ने दस गुणो के स्थान पर भामह की तरह तीन गुण—माधुर्य, ओज और प्रसाद—ही पर्याप्त समझे। हाँ गुणो का महत्त्व इसलिए अवश्य कायम रहा कि वे काव्यात्मा (रस) के नित्य अङ्ग माने गये।

आचार्य कुन्तक ने भी काव्य को कवि-प्रतिभा-जन्य बताते हुये रीति-विभाजन और रीतियो में कोटि-क्रम-निर्धारण, दोनो को असगत माना। उनकी दृष्टि से रीति केवल कवि-कर्म का ढग है, और वह ढग रचना के गुणो के अनुसार दो प्रकार का – सुकुमार और विचित्र—हो सकता है। उक्त दोनो प्रकारो के चार गुण—माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य—मूलतत्त्वो के रूप में स्वीकार किये। इसके अतिरिक्त 'औचित्य' एव 'सौभाग्य' ये दो गुण तो काव्यमात्र में होने चाहियें। कुन्तक के विवेचन में 'वदतो-व्याघात' का दोष प्रतीत होता है। जिस बात के लिए वे वामन को दोषी ठहराते हैं, वही दोष उनके मत में मालूम होता है।

अन्त में सस्कृत-साहित्य-शास्त्र के समाहारवादी व्याख्याकार मम्मट और विश्वनाथ आते हैं। मम्मट ने वामन की तीन रीतियो को स्वीकार करते हुए उद्भट की वृत्तियो से मेल कर दिया। इसके अनुसार वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली क्रमश उपनागरिका, परुषा और कोमला ही हैं। इसे हम निम्न प्रकार से रखेंगे—

वैदर्भी = उपनागरिका (माधुर्य-व्यञ्जक वर्णों के आश्रित)
गौडी = परुषा (ओज-व्यञ्जक वर्णों के आश्रित)
पाञ्चाली = कोमला (माधुर्य व ओज-व्यञ्जक वर्णों से भिन्न वर्णों के आश्रित)

परन्तु मम्मट ने वामन के दस गुणो की आलोचना कर उन्हे तीन गुणो के अन्तर्गत ही समाविष्ट कर दिया। विश्वनाथ ने रुद्रट् की तरह चार रीतियो का प्रतिपादन किया।

रीति-सम्प्रदाय के इतिहास से स्पष्ट है कि यह काव्य के वाह्याकार या शरीर को ही सर्वस्व मानकर चला, काव्यात्मा तक इसकी वैसी पहुँच न हो सकी। इसलिए यह सम्प्रदाय दीर्घजीवी न हो सका और न ही सस्कृत-साहित्य-शास्त्र में वह प्रतिष्ठा पा सका। ऐसी अवस्था मे हिन्दी-साहित्य में रीति-सम्प्रदाय की परम्परा प्राप्त न हो तो कोई भी आश्चर्य नही। हाँ, हिन्दी में 'रीति' शब्द का प्रयोग वहुत हुआ है, परन्तु वह अपने ही अन्य विशिष्ट अर्थ में। वह काव्य-रचना-सम्बन्धी नियमो के विधान अथवा कविता करने की रीति सिखाने से ही सम्वद्धित है। इस प्रकार हिन्दी में 'रीति-काल', 'रीति-ग्रन्थ' और 'रीति-वादी-आचार्य' आदि जो प्रयोग होता है उसका अर्थ होता है—"काव्य-रचना सम्वन्धी नियमो की शिक्षा देने वाले लक्षणग्रन्थो की प्रधानता वाला काल", इत्यादि।

रीति-सम्प्रदाय काव्य के कलापक्ष को प्रावान्य देने वालो में गिना जायेगा। इस दृष्टि से आलकारिको से इसकी समता है। परन्तु एक

बात से रीतिवादियो का महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक है। आलकारिक काव्यात्मा अलकारो में ढूंढते रहे जब कि यह स्पष्ट है कि काव्य बिना अलकारो के भी रहसकता है। रीति के आचार्यों ने काव्यात्मा गुणो में पहिचानने की कोशिश की। और वे उसके काफी निकट पहुँच गये, परन्तु इतना फिर भी नही पहिचाना कि गुण वस्तुत किससे सम्बन्धित है। अत यह कहा जा सकता है कि रीति के आचार्यों ने काव्यात्मा ढूँढने में अलकारवादियो की अपेक्षा अधिक प्रगति की। इसके अतिरिक्त रीतिवादियो द्वारा गुणो का विस्तृत विवेचन किये जाने पर भी वे वास्तविक 'गुणी' का पता न पा सके। गुणो का सम्बन्ध रीति से ही जोड दिया, जो वास्तव में काव्य की बाह्याकृति ही हो सकती थी। इस भूल को ध्वनिवादियो ने 'अलकार्य' और 'अलकार' के भेद के विवेक के कारण नही दुहराया। उन्होने काव्यात्मा रूप रस से गुणो का सम्बन्ध पहचानकर यह बताया कि शृ गार और करुण रस में माधुर्य गुण की विशेषता रहती है, रौद्र, वीर और अद्भुत रसो में ओज मुख्य है और प्रसाद सभी रसो से सम्बन्धित है।

रीति तथा अन्य सम्प्रदायों की तुलना

ध्वनि-सम्प्रदाय

पश्चिम के देशो मे काव्यशास्त्र की प्रवृत्ति काव्य के उत्कर्षक एव अपकर्षक नियमो का सग्रहमात्र करने की रही, उनमें परस्पर सम्बन्ध निर्धारण कर सुशृङ्खलता स्थापित करने की

विषयोपक्रम

ओर विशेष ध्यान नही दिया गया। फलत वह भारतीय काव्यशास्त्र की तरह समन्वित नहीं हो सका। परन्तु इधर भारतीय आचार्यों की काव्य के सम्बन्ध में भी वही चिरपरिचित दृष्टि रही जो विविध प्रपञ्चात्मक सङ्गठनो में एकत्व या अद्वैत की खोज किया करती है। वे यह अच्छी तरह जानते थे कि दो-चार शब्दो में काव्य का लक्षण बता देना नितान्त असम्भव है, उसके लिए तो काव्यात्मा के रूप में काव्य के मूलभूत तत्त्व को खोजकर काव्य के शरीर और अङ्गोपाङ्गो की अन्विति ठीक से बिठानी होगी। तभी काव्यपुरुष का स्वरूप विशद रूप में सामने आ सकता है। ईसा की आठवी शताब्दी तक भरत के नाट्यशास्त्र, भामह के काव्यालकार, उद्भट के भामहविवरण, वामन के काव्यालकारसूत्र और रुद्रट् के काव्यालकार की रचना उक्त दृष्टि को लेकर ही होती रही, परन्तु रसवादियो के सिवाय अन्य आचार्य काव्यात्मा की खोज में सफल नही कहे जा सकते, क्योकि अलकार तथा रीतिवादी आचार्य तो स्पष्टत काव्य के बाह्याङ्गो तक ही पहुँचे, और रसवाद में भी रमणीय फुटकर छन्दो को काव्यकोटि में लाने के लिए विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी की पूरी सङ्गति न दिखा सकने के कारण, अड़चन पडती थी।

ऐसी अवस्था में नवी शताब्दी मे रजानकानन्दवर्धनाचार्य ने अपने युग-प्रवर्तक ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' के द्वारा ध्वनि को 'काव्यात्मा' के रूप मे प्रतिष्ठित कर काव्यपुरुष को सर्वथा सजीव रूप में समुपस्थित कर दिया। इन्होने अपनी रोचक एव पाण्डित्यपूर्ण शैली में निम्न कार्य सम्पन्न कर दिखाये —

ध्वनिकार का कर्तृत्व

(i) काव्यात्मा रूप ध्वनि का अनुसन्धान।

(ii) ध्वनि के सम्बन्ध में सम्भावित भ्रान्तियो का निराकरण।

(iii) पूर्वप्रचलित रस, गुण, रीति और अलकार आदि मतो का ध्वनि-सिद्धान्त में समाहार।

(iv) ध्वनि का मौलिक एव अप्रतर्क्य विशद विवेचन कर काव्य के एक सर्वाङ्गपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन।

यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या ध्वनि-सिद्धान्त के एकमात्र आदिप्रवर्तक "ध्वन्यालोक" ग्रन्थ के रचयिता आनन्दवर्धनाचार्य ही थे ? इस सम्बन्ध में ध्वनिकार ने प्रथम कारिका में ही—**काव्यस्यात्मा ध्वनि-रीति बुधैर्य समाम्नातपूर्व.** (काव्यात्मारूप ध्वनि विद्वानो के द्वारा पहले से ही प्रकाशित होती चली आई है) आदि कहकर स्वत ही स्पष्ट कर दिया है कि ध्वनि-सिद्धान्त सर्वथा नवीन नही। वह पूववर्ती विद्वानो द्वारा कथित है। आगे चलकर वृत्ति में—"**सूरभि. कथितः इति विद्वदुपज्ञेय-मुक्ति**, **प्रथमे हि विद्वासो वैयाकरणा** "—इस कथन द्वारा यह भी प्रकट कर दिया कि वे विद्वान् वैयाकरण ही हैं जिनके स्फोट-सिद्धान्त के के आधार पर ध्वनि-सिद्धान्त का उद्भव हुआ है। इसके साथ-साथ ध्वनि की मूल साधिका 'व्यञ्जना वृत्ति' का उल्लेख भारतीय दर्शन-ग्रन्थो में पहले से ही होता चला भाया था। इतना होने पर भी यह निर्विवाद है कि ध्वनि-सिद्धान्त का साङ्गोपाङ्ग शास्त्रीय विवेचन प्रथमत "ध्वन्यालोक" ग्रन्थ द्वारा ही हुआ है।

'ध्वन्यालोक' की कारिकाओं और वृत्ति के कर्त्ता एक ही थे या अलग-अलग यह ऐतिहासिक प्रश्न अभी तक विवादास्पद है। डाक्टर बुहलर, डाक्टर डे, और डाक्टर काणे आदि ने कारिकाओं और वृत्ति को दो भिन्न व्यक्तियों की रचना माना है। इसके विपरीत डाक्टर सकरन ने दोनों को एक ही व्यक्ति की कृति सिद्ध करते हुए परम्परागत मान्यता का समर्थन किया है।

ध्वनिकार और वृत्तिकार

ध्वनि-सिद्धान्त के पुरस्कर्ता अपना गौरव इस उद्घोषणा में मानते हैं कि उनका सिद्धान्त स्व-कल्पित या आविष्कृत नहीं अपितु "विद्वदुपज्ञेय-मुक्ति" (विद्वन्मतानुसारी कथन) है। विद्वानों से उनका तात्पर्य वैयाकरणों से है, जिनके स्फोट-सिद्धान्त के आधार पर इन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त का विस्तार किया। अब यहाँ पर यह देख लेना आवश्यक है कि वैयाकरणों का उक्त स्फोट-सिद्धान्त क्या है, ताकि ध्वनि सिद्धान्त के उद्गम की कहानी स्पष्ट हो जाय।

ध्वनि-सिद्धान्त का उद्गम 'स्फोटवाद'

वैशेषिक दर्शन के अनुसार शब्द का आश्रय आकाश है तथा उसका ग्रहण कर्णेन्द्रिय या रेडियो आदि यन्त्रविशेष के द्वारा होता है। और उसकी उत्पत्ति के तीन कारण हो सकते हैं—(१) संयोग (२) विभाग और (३) शब्द। घंटा या भेरी आदि के बजने पर जो शब्द होता है वह संयोग है, क्योंकि भेरी और दण्ड के संयोग से उत्पन्न हुआ है। बाँस की दो खपच्चों को फाड़ने से जो शब्द पैदा होता है वह दलद्वय के फटने के कारण उत्पन्न होने से विभागज है। और मुख द्वारा जिस शब्द का उच्चारण किया जाता है वह भी संयोगज या विभागज ही है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति भी स्वरयन्त्र के स्वरतंतुओं (Vocal Chords) के संयोग और विभाग से होती है। और इस प्रकार से पैदा हुये संयोगज और विभागज 'शब्द' कर्णेन्द्रिय तक एक विशेष चक्रमयी-शब्द-तरङ्गों की शृङ्खला को पैदा करते

हुए पहुँचते हैं। जिस प्रकार तालाब में फैंका गया पत्थर चारो ओर को लहरो के वृत्तो की शृङ्खला को प्रवाहित कर देता है, उसी तरह आकाश में पदार्थों का सयोग या विभाग चक्रमयी-शब्द-तरङ्गो की शृङ्खला को जन्म देता है। इस शृङ्खला में आदि का प्रथम शब्द सयोगज या विभागज है और उसके बाद के सब शब्दज हैं। घण्टे पर मुगरी के प्रहार मे जो प्रथम सयोगज शब्द पैदा होता हैं वह दूसरी शब्दतरङ्ग को पैदा करता है। इस दूसरी शब्दतरङ्ग से तीसरी, तीसरी से चौथी, बस यही शब्द-धारा का क्रम आकाशस्थ वायुमण्डल में व्याप्त हो जाता है। और जहाँ कही शब्द ग्रहण करने का यत्र कर्ण आदि होता है वह सुना जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आकाश में अहर्निश पैदा होने वाली अनन्त शब्द-धाराओ में आदि शब्द सयोगज या विभागज होते हैं और शेष सभी शब्दतरङ्ग पूर्व शब्द से पैदा होने के कारण शब्दज हैं। हमारे कानो में दूरस्थ घण्टानाद का जो शब्द पडता है वह व्याप्त शब्दतरङ्गा की एक मध्य की कडी होने से शब्दज है। शब्द-श्रवण-प्रक्रिया की इस प्रगति को पारिभाषिक शब्दावली में 'वीचि-तरङ्ग-न्याय' के द्वारा स्पष्ट किया जाता है।

शब्द-श्रवण-प्रक्रिया को ध्यान से देखने से यह भी ज्ञात होता है कि चक्रमयी-शब्द-तरङ्गो की धारा हमारे कान तक जब पहुँचती है तो शब्द सुनाई देता है और जब वह आगे बढ जाती है तो सुनाई देना बन्द हो जाता है। इस अवस्था में नैयायिक कहते है कि शब्द का नाश हो गया और वह अनित्य है। इसके विपरीत वैयाकरणो की मान्यता है कि शब्द नित्य है, वह नष्ट नही होता, उसका तिरोभावमात्र होता है। कुछ भी हो, परन्तु इतना तो उभयसम्मत है कि श्रूयमाण शब्द क्षणिक है।

जब शब्द क्षणिक है तो कई वर्णों से मिलकर बने पद और पदो से बने वाक्यो का श्रवण कैसे सम्भव है ? क्योकि घट, पट इत्यादि पदो के उच्चारण के समय प्रत्येक वर्ण का क्रमिकरूपेण उद्भव और विनाश

होना चला जायेगा, समुदाय-रूप मे पद की स्थिति कभी सम्भव नही। घट के घ् के श्रवण के समय आकार की उत्पत्ति ही नही हुई है और जब तक अ वर्ण का उच्चारण किया जायेगा तब तक घ् उत्पन्न होकर विनष्ट या तिरोभूत भी हो चुकेगा। इस प्रकार पद और वाक्य का समुदाय रूप में जब श्रवण ही सम्भव नही तो अर्थबोध कैसे सम्भव है, वह तो दूर की बात है।

उक्त समस्या का समाधान शब्द-विज्ञान के अद्वितीय ग्रन्थ "महाभाष्य" में पतञ्जलि मुनि ने स्फोट-सिद्धान्त की कल्पना द्वारा किया। इसके अनुसार श्रूयमाण वर्ण (वैयाकरण ध्वनि या नाद कहते है) अर्थ की प्रतीति कराने में समर्थ नही, क्योकि वे आशुतर विनाशी अथवा तिरोभावी है। अर्थप्रतीति तो "सदसदनेकवर्णावगाहिनी-पद-प्रतीति" (विद्यमान और पहिले तिरोभूत अनेक वर्णो का ग्रहण कराने वाली जो पद-प्रतीति है वह) मे होती है। और "सदसदनेकवर्णावगाहिनी-पद-प्रतीति" पहिले के क्रमश श्रूयमाण और विलुप्त वर्णों के अनुभव से उत्पन्न सस्कारो के साथ अन्तिम वर्ण का श्रवण करने पर होती है। इसका आशय यह हुआ कि क्षणिक वर्ण श्रोता की बुद्धि में अपने सस्कार छोडकर तिरोभूत हो जाते हैं। इन्ही सस्कारो के बल पर पूरे पद का सकलन हो जाता है जिससे पदप्रतीति होती है। इसी पदप्रतीति से अर्थप्रतीति हो जाती है और यही सकलित-समुदाय-रूप पदप्रतीति "स्फोट" है, क्योकि इसी से अर्थ स्फुटित होता है—"स्फुटित अर्थः यस्मात् सस्फ ट.।"

श्रूयमाण शब्द (ध्वनि या नाद) बुद्धि में स्फोट (सकलित समुदाय-रूप पदप्रतीति) का जनक या अभिव्यजक है। वैयाकरणो के मत मे यही स्फोटात्मक शब्द नित्य है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वैयाकरण "ध्वनति इति ध्वनि" इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'स्फोट' को अभिव्यक्त करने वाले श्रूयमाण वर्णो को ध्वनि कहते है। इसी के साम्य मे आलकारिको ने भी उन शब्द और अर्थ आदि के लिए ध्वनि

शब्द का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया जो वाच्य और वाचक से भिन्न व्ययार्थ का वोध कराते हैं। आगे चलकर व्यजनावृत्ति, व्यङ्ग्यार्थ और व्यङ्ग्यप्रधान काव्य के लिए भी ध्वनि शब्द का प्रयोग होने लगा। उक्त पाँचो अर्थों मे प्रयुक्त होने के लिए ध्वनि शब्द की निम्न प्रकार व्युत्पत्तियाँ की जा सकती हैं —

(1) "ध्वनतीति ध्वनि" इस व्युत्पत्ति से जो शब्द या अर्थ व्यङ्ग्यार्थ को ध्वनित करे वह ध्वनि है।

(ii) "ध्वन्यते इति ध्वनि" जो ध्वनित हो, अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ, वह ध्वनि है।

(iii) "ध्वननं ध्वनि" इस व्युत्पत्ति से जो ध्वनन रूप व्यापार है वह व्यजनावृत्ति भी ध्वनि हुई।

(iv) "ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनि·" इस व्युत्पत्ति से जिसमें पूर्वोक्त चार प्रकार की ध्वनि (व्यजक शब्द या अर्थ, व्यङ्ग्यार्थ और व्यजना-व्यापार) हो वह काव्य भी ध्वनि कहाया।

"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति (काव्यात्मा ध्वनि है) ध्वनिकार का यह आदिवाक्य सम्पूर्ण ध्वनि-सिद्धान्त का बीजभूत है। इसका आशय

काव्य के भेद— "ध्वनि-वाक्य"

यह है कि काव्य में मुख्यतया वाच्यार्थ का नही अपितु व्यङ्ग्यार्थ (ध्वनि) का सौन्दर्य होता है। जैसे आत्मा की स्थिति से शरीर प्राणवान् होता है वैसे ही ध्वनि की उपस्थिति से काव्य सजीव होता है। यह व्यङ्ग्य-प्रधान काव्य ही उत्तम कोटि का है अत उसे ध्वनिकाव्य कहते है। ध्वनिकाव्य का निरूपण अथवा ध्वनि का लक्षण ध्वनिकार ने निम्न प्रकार किया है —

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्त काव्यविशेष स ध्वनिरिति सूरिभि. कथित ॥

"जहाँ अर्थ अपने आपको अथवा शब्द अपने वाच्यार्थ को गौण बनाकर "तमर्थ"—उस प्रतीयमान अर्थ को—अभिव्यक्त करते हैं उस काव्यविशेष को विद्वानों ने ध्वनि नाम से कहा है।" यहाँ पर तमर्थ का विशेष महत्त्व है। इसे पृथक् कारिका में बड़े रोचक ढंग से स्पष्ट किया गया है।

ध्वनि का स्वरूप व लक्षण

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥

"प्रतीयमान कुछ और ही चीज है जो महाकवियों की वाणी में (वाच्यार्थ से व्यतिरिक्त रूप में) रमणियों के प्रसिद्ध मुख-नासिकादि से अलग उनके लावण्य के समान भासित होता है।" इस प्रतीयमान अर्थ की विशेषताएँ भी बतायी हैं—

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥

"उस स्वादु (आस्वाद्य रूप) अर्थतत्त्व को प्रवाहित करने वाली महाकवियों की वाणी उनकी अलौकिक एवं प्रतिभासमान प्रतिभाविशेष को दर्शाती है।"

इस प्रकार वाच्यार्थ की अपेक्षा जब व्यंग्य (प्रतीयमान) अर्थ अधिक चमत्कारकारक हो तब ध्वनिकाव्य (उत्तमकाव्य) समझना चाहिये। ध्वनिकार ने उपसंहार करते हुए ध्वनि के प्राधान्य की ओर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट किया है —

सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम्।
यद् व्यंग्यस्याङ्गिभूतस्य तत्पूर्णं ध्वनिलक्षणम् ॥

ध्वन्या० २। का० ३३ ॥

"ध्वनि के सभी भेदों में प्रधानभूत ध्वनि की जो स्फुट रूप से प्रतीति

होती है वही ध्वनि का पूर्ण लक्षण है।" व्यङ्ग्यार्थ की अप्रधानता होने पर काव्य मध्यम कोटि का हो जायेगा। अर्थात् वाच्यार्थ की अपेक्षा यदि व्यङ्ग्यार्थ गौण (कम रमणीय या समान रमणीय) हो तो मध्यम काव्य या गुणीभूत व्यङ्ग्य होता है।

गुणीभूतव्यग्य

काव्य-भेद का तीसरा प्रकार चित्रकाव्य है, इसे अधम कहा गया है। इसमें व्यङ्ग्यार्थ का अभाव रहता है, और अर्थचारुत्व भी नहीं होता। ध्वनिकार की यह उदारता ही समझनी चाहिये कि उन्होने इसे काव्य-कोटि में स्थान दिया, अन्यथा अभिनवगुप्त और विश्वनाथ ने तो रसाभाव के कारण चित्रकाव्य को काव्य ही नही माना। इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ की सापेक्षिक प्रधानता के आधार पर ध्वनिवादियो ने काव्य के तीन भेद किये हैं—[१] उत्तम (ध्वनिकाव्य) [२] मध्यम (गुणी-भूतव्यग्य) और [३] अधम (चित्रकाव्य)।

अधमकाव्य

और स्वय ध्वनि (ध्वन्यते इति ध्वनि) भी तीन प्रकार की है—[१] रस-ध्वनि [२] अलकार-ध्वनि और [३] वस्तु-ध्वनि। काव्य में जब आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव और सचारी के सयोग से पुष्ट होकर स्थायीभाव रस रूप में अभिव्यक्त होता है तब रस की निष्पत्ति होती है। जिन स्थलो पर विभावादि से रसाभिव्यक्ति बिना किसी व्यवधान के होती है वे रस-ध्वनि के उदाहरण माने जाते है। असलक्ष्यक्रमव्यग्य-ध्वनि के उदाहरणो मे काव्य के शब्दार्थ सीधे रसाभिव्यक्ति करते है। अत वहाँ रस-ध्वनि ही रहती है। परन्तु जहाँ शब्दार्थ द्वारा किसी अलकार या वस्तु की व्यञ्जना हो वहाँ क्रमश अलकार-ध्वनि कही जायेगी। सलक्ष्यक्रमव्यग्यध्वनि में या तो अलकार-ध्वनि होती है या वस्तु-ध्वनि। इन तीनो के क्रमश उदाहरण देखने चाहिये।

ध्वनि के तीन प्रकार

रसध्वनि का उदाहरण.—

रसध्वनि

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समा.।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

इन शब्दो से ऋषि के शोक की भावना सीधे करुण रस के रूप में प्रतीयमान है। इसी प्रकार—

सखी सिखावत मान विधि, सैननि वरजति बाल।
'हरुए' कहु मो हिय वसत सदा विहारीलाल ॥ विहारी ॥

मान की शिक्षा देने वाली सखी के प्रति नायिका की उक्ति है। 'हरुए' पद से विहारीलाल में अनुराग सूचित होता है, जिससे सम्भोग शृङ्गार ध्वनित है।

अलकार-ध्वनि का उदाहरण.—

मैं नीर भरी दुख की वदली !
विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना।
परिचय इतना इतिहास यही,
उमड़ी कल थी मिट आज चली।
मैं नीर भरी दुख की वदली !

"मुझे नीर से भरी दुख की बदली समझ सकते हो, पर भाग्य उस बदली जैसा भी नहीं, क्योंकि मुझे उसकी तरह विस्तृत-नभ-प्राङ्गण रूप किसी की सुखद गोद का एक कोना भी प्राप्त न हो सका—विरहिणी जो ठहरी।"

अलकार-ध्वनि

इस वाच्यार्थ से वदली और विरहिणी की समता ध्वनित होती है। बदली नीरभरी है तो विरहिणी अश्रुपूर्ण-और दोनो को उमडते के साथ ही (विरहिणी, उठते यौवन में ही) वरसना पडा (विरहिणी को रुदन करना पडा)। परन्तु उपमान से उपमेय की न्यूनता बताने के कारण चमत्कार बढ गया है। अत यहाँ "व्यतिरेकालकार"-रूप ध्वनि कही जायेगी।

वस्तु-ध्वनि का उदाहरण :—

कोटि मनोज लजावन हारे, सुमुखि ! कहहु को अहहि तुम्हारे ?
सुनि सनेहमय मंजुल बानी, सकुचि सीय मन महँ मुसिकानी ॥

ग्राम-ललनाओ के सीधे से प्रश्न के उत्तर में, सीता जी सकोचपूर्वक मन ही मन मुसिकाने लगी । इस वाच्यार्थ मे रामचन्द्र जी का पति होना रूप वस्तु व्यग्य है ।

वस्तु-ध्वनि

अलकार, वस्तु और रस-ध्वनियो में रस-ध्वनि का ही महत्त्व सर्वोपरि है, क्योकि वस्तु और अलकार कभी वाच्य भी होते है, परन्तु रस कभी वाच्य नही होता । और इसीलिए पण्डितराज जगन्नाथ ने इसे उत्तमोत्तम ध्वनि-काव्य कहा है । रस-ध्वनि ही काव्य का सर्वोत्तम रूप है । यह उत्तम में भी उत्तम है और दूसरे शब्दो में रस ही काव्य कासर्वश्रेष्ठ तत्त्व है ।

ऊपर व्यङ्ग्यार्थ को आधार मानकर ध्वनि के भेद किये गये हैं । इसके अतिरिक्त व्यञ्जक (पद, वाक्यादि) की दृष्टि से भी ध्वनि के भेद किये जाते हैं । इस प्रकार ध्वनि के मुख्य भेद ५१ ही हैं, परन्तु अनेक आचार्यों ने अवान्तर और मिश्र भेदो के प्रदर्शन द्वारा यह सख्या हजारो तक पहुँचा दी है ।

ध्वनिकार नें ध्वनि के अस्तित्व को सिद्ध कर सामान्यतया दो मुख्य भेद बताये हैं—[१] अविवक्षितवाच्य और [२] विवक्षितान्य-परवाच्य ।—**अस्ति ध्वनि । स चाविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपर वाच्यश्चेति द्विविध सामान्येन ॥** यहाँ इनका विवरण देख लेना आवश्यक है—

[१] *अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूला ध्वनि)*—लक्षणा के आश्रित

रहने वाली इस ध्वनि में वाच्यार्थ की विवक्षा नही रहती। वाच्यार्थ बाधित होने से अर्थप्रतीति नही कराता अपितु

अविवक्षितवाच्य ध्वनि

इस (ध्वनि) के व्यञ्जनाव्यापार मे लक्षणा-वृत्ति तथा वक्तविवक्षा आदि सहकारी होते है जिनमें लक्षणावृत्ति का ही सर्वाधिक प्रभाव होने से यह लक्षणामूला भी कहाती है। इसमें दो स्थितियाँ सम्भव है। एक में तो वाच्यार्थ अर्थान्तर में सक्रमित हो सकता है और दूसरी में सर्वथा तिरस्कृत। इसलिए लक्षणामूला ध्वनि के दो भेद होते है—[१] अर्थान्तरसक्रमितवाच्य (जहाँ वाच्यार्थ बाधित होकर अन्य अर्थ में सक्रमित हो जाता है) और [२] अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य (जहाँ वाच्यार्थ सर्वथा उपेक्षित ही रहता है।)

अर्थान्तरसक्रमितवाच्य का उदाहरण निम्न है—

> स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना. ,
> वाता' शीकरिण. पयोदसुहृदामानन्दकेका: कला ।
> काम सन्तु दृढ' कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे ,
> वैदेही तु कथ भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥

"स्निग्ध एव श्यामल कान्ति से आकाश को व्याप्त करने वाले तथा वकपक्ति से युक्त मेघ [भले ही उमडें], जल-विन्दुओ से युक्त वायु [भले ही बहे] और मेघमित्र मयूरो की आनन्दभरी कूके भी चाहे जितनी [श्रवणगोचर हो], मै तो कठोर-

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य

हृदय 'राम' हूँ, सब कुछ सह लूगा। परन्तु वैदेही विचारी की क्या दशा होगी ? हे देवि धैर्य धरो।" यहाँ पर 'राम' शब्द का सज्ञिमात्र राम-रूप-अर्थ बाधित होकर व्यग्य-धर्म-निष्ठ "अत्यन्त दुःखसहिष्णु राम" का बोध होता है। इस प्रकार राम शब्द का वाच्यार्थ अर्थान्तर में सक्रमित हो गया है। इसी प्रकार—

सीताहरन तात ! जनि कहेउ पिता सन जाइ।
जो मैं 'राम', तौ कुल-सहित कहहि दसानन आइ ॥

—रामचरितमानस ॥

मरणासन्न जटायु की दशा को देखकर सीताहरणकारी रावण पर क्रोधिक होने वाले राम की उक्ति है। इसका वाच्यार्थ है—"हे प्रिय बन्धु जटायु ! (स्वर्ग में) जाकर (स्वर्गस्थ) पिता जी से सीता-हरण का समाचार मत कहना। यदि मैं 'राम' हूँ तो रावण स्वय ही कुलसहित आकर कह देगा।" यहाँ भी मुख्यार्थ बाधित होकर "खरदूषणादि को मारने वाला वीर राम" यह लक्ष्यार्थ ज्ञात होता है। राम रूप मुख्यार्थ का सर्वथा त्याग न होकर 'वीर-राम' इस विशिष्ट अर्थ में सक्रमण हो गया है। अजहत्स्वार्था लक्षणा व्यापार के प्रभाव से व्यञ्जनावृत्ति द्वारा प्रयोजनरूप व्यग्यार्थ की प्रतीति होती है। वह है—राम की वीरता का आधिक्य।

अब अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का उदाहरण भी देखिये —

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डल ।
निश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥

"सूर्य में जिसकी शोभा सक्रान्त हो गई है (क्योकि हेमन्त ऋतु में सूर्य भगवान् चन्द्रमा की तरह अनुष्ण और आह्लादमय हो जाते हैं) और तुषार से घिरे मण्डल वाला चन्द्रमा, निश्वास से अन्धे (मलिन) दर्पण के समान, प्रकाशित नही होता।" यहाँ पर 'अन्ध' शब्द का वाच्यार्थ 'नेत्रहीन' है जो दर्पण में अनुपपन्न होने से बाधित है। तब प्रयोजनवती शुद्धा जहत्स्वार्था लक्षणा से 'अन्ध' का लक्ष्यार्थ हुआ 'पदार्थों को प्रकाशित करने नें अशक्त' और व्यग्यार्थ रूप प्रयोजन हुआ 'अप्रकाशितत्वातिशय'। इस प्रकार अन्ध शब्द अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य

का उदाहरण है, क्योकि इसने अपने वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार कर दिया है।

इसी प्रकार निम्न हिन्दी उदाहरण मे भी—

कह अंगद—सलज्ज जग माँहीं। रावण तेहि समान कोउ नाहीं॥

अगद-रावण-सवाद में अगद की रावण के प्रति उक्ति है। इसका वाच्यार्थ हुआ—"अगद कहते है, हे रावण! तुम्हारे समान 'लज्जाशील' जगभर में कोई नही है।"

अगद द्वारा धृष्ट रावण को लज्जाशील वताना प्रकरणानुसार सगत नही, अत मुख्यार्थ का वाध हो जाता है। और लक्ष्यार्थ हुआ—"हे रावण! तुम्हारे समान 'निर्लज्ज' जगभर में कोई नही।"

इस प्रकार वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग कर दिया गया है, जिसमें जहत्स्वार्था लक्षणा हुई। इसके प्रभाव से प्रयोजनरूप व्यग्यार्थ हुआ—"निर्लज्जता की पराकाष्ठा।"

व्यञ्जक की दृष्टि से यदि ध्वनि के भेदो पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि उक्त उदाहरण 'अन्ध' इस पदमात्र से सम्बन्धित है। अत यह पदगत ध्वनि का ही उदाहरण है। अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि वाक्यगत भी हो सकती हैं। इसका उदाहरण निम्न है—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥

"सुवर्ण जिस पृथिवी रूप लता का पुष्प है उसका चयन तीन ही पुरुष करते है—शूर, विद्वान् और जो सेवा करना जानते है।" यहाँ भी समस्त 'सुवर्णपुष्पा पृथिवी का चयन' रूप मुख्यार्थ अनुपपन्न है। लक्षणा द्वारा "प्रभूत धन के अनायासोपार्जन मे सुलभ समृद्धिसम्भारभाजनता' यह अर्थ व्यक्त होता है। और प्रयोजनरूप व्यङ्ग्य है शूर, कृतविद्य और सेवको की प्रशस्ति।

[२] *विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूला ध्वनि)*—इसमें वाच्यार्थ विवक्षित रहने पर भी अन्यपरक अर्थात् व्यङ्ग्यनिष्ठ होता है। यह स्पष्टतया अभिधाशक्ति के आश्रित है।

विवक्षितान्यपरवाच्य

इसके दो भेद हैं—[१] असलक्ष्यक्रमध्वनि और [२] सलक्ष्यक्रमध्वनि । अभिधामूला ध्वनि में वाच्यार्थ की अपनी सत्ता अवश्य होती है परतु अन्तत वह व्यङ्ग्यार्थ का ही साधक होता है । वाच्यार्थप्रतीति और व्यग्यार्थप्रतीति में पूर्वापर क्रम भी अवश्य रहता है, परन्तु जहाँ पर क्रम होने पर भी लक्षित न हो वहाँ असलक्ष्यक्रमध्वनि होती है। जिस प्रकार शतपत्रो को सुई से भेदन करने पर पत्रो के भेदन के क्रम की प्रतीति नही होती उसी तरह व्यग्यार्थ (रस) की प्रतीति में क्रम अलक्षित रहता है। इसे शत-पत्र-भेद-न्याय कहते हैं। असलक्ष्यक्रमव्यग्य के अन्तर्गत समस्त रस-प्रपञ्च (अर्थात् रस, भाव, तदाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलतारूप आस्वाद प्रधान ध्वनि) आ जाता है। इसके उद्रेक की उत्कटता के कारण क्रम की प्रतीति नही होती।

यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि अविवक्षितवाच्य ध्वनि के जो दो भेद किये गये थे वे वाच्यार्थ की प्रतीति के स्वरूप के भेद के कारण थे, परन्तु विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के

असलक्ष्यक्रमध्वनि

दोनो भेद व्यञ्जनावृत्ति के स्वरूप के भेद के कारण हैं। प्रथम असलक्ष्यक्रमध्वनि (रस-ध्वनि) के उदाहरण देखने चाहियें :—

शिखरिणि क नु नाम कियच्चिर, किमभिधानमसावकरोत्तप. ।
सुमुखि येन तवाधरपाटलं, दशति बिम्बफलं शुकशावक. ।।

"हे सुमुखि ! इस शुकशावक ने किस पर्वत पर, कितनी देर कौन-सा तप किया है जिसके कारण तुम्हारे अधर के समान लाल-लाल बिम्ब-फल को काट रहा है ?" इस वाच्यार्थ के साथ-साथ दूसरा यह अर्थ भी

प्रकाशित होता है कि 'उचित तारुण्यकाल में तुम्हारे अधरारुण्यलाभ से गर्वित विम्बफल का तुम्हें ही लक्ष्य करके रसास्वादन करना पुण्यातिशयलभ्य फल है, और इसकी प्राप्ति के लिए जो आवश्यक तपश्चर्या है उसे करने के लिए अनुरागी वक्ता तैयार है।' यहाँ पर व्यञ्जना वृत्ति मे फल की पुण्यातिशयलभ्यता और तत्सम्बन्धी अनुरागी का स्वाभिप्राय-स्थापन ये दोनो बातें प्रकट होती हैं। कुल मिलाकर विप्रलम्भ-शृंगार व्यंग्य है।

इसके अतिरिक्त यहाँ यह भी स्पष्ट है कि शब्द और वाच्यार्थ का महत्त्व नही है, अत वे गौण हैं। व्यञ्जना वृत्ति से प्रकट होने वाले व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता होने मे यह ध्वनिकाव्य (उत्तम) है। परन्तु 'मुख्यार्थ का बाध' जैसी कोई चीज भी नही है, अत यह लक्षणामूलक ध्वनि न होकर अभिधामूलक है। उसमें भी शृंगार रस के उद्रेक की उत्कटता के कारण वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्रतीति में जो क्रम है वह भी लक्षित नही होता। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि उक्त काव्य, 'रस-ध्वनि' (विप्रलम्भ-शृंगार) की प्रधानता होने से, असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनि का उदाहरण है।

इसी प्रकार निम्न हिन्दी उदाहरण में —

देखन मिषु मृग विहग तरु, फिरै बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छवि, बाढ़ी प्रीति न थोरि॥

—रामचरितमानस

वाच्यार्थ है—[जनकपुरी की वाटिका में गौरीपूजन के लिए आई हुई सीता जी और रामचन्द्र जी के पूर्वमिलन के समय का प्रसग है] सीता जी पशु-पक्षी तथा वृक्षों को देखने के बहाने उस तरफ बार-बार आती हैं और श्रीराम की छवि को पुन पुन देखने से अतिशय अनुराग की वृद्धि होती है।

यहाँ भी सीता जी का रामचन्द्र जी के प्रति पूर्व-अनुराग का वर्णन होने से विप्रलम्भ-शृ गार व्यग्य है। अत रस-ध्वनि का उदाहरण है।

जैसा कि ऊपर बताया है, विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का दूसरा भेद सलक्ष्यक्रम ध्वनि है। इसमें वाच्यार्थ से वयग्यार्थ (अलकार और वस्तु रूप ध्वनि) की प्रतीति का क्रम उसी प्रकार स्पष्टतया लक्षित होता है जैसे घण्टे के शब्द के पश्चात् उसकी गूंज (अनुरणन या अनुस्वान)।

सलक्ष्यक्रम ध्वनि और इसके तीन भेद

इस ध्वनि के भी तीन भेद हैं—[१] शब्दशक्त्युद्भव [२] अर्थशक्त्युद्भव और [३] शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव (इस तृतीय भेद के लिए द्वितीय उद्योत की २३वी कारिका की वृत्ति देखो)।

शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि का एकमात्र मूलावार बोधक-शब्द होता है। उस शब्द के स्थान पर दूसरा पर्यायवाची शब्द रख देने से काम नहीं चलता। इसके विपरीत अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि में शब्दपरिवर्तन के वाद भी अर्थात् पर्यायवाची शब्द के रखने पर भी व्यग्यार्थ पूर्ववत् ध्वनित होता रहता है। इनका भेद उदाहरणो द्वारा स्पष्ट हो जायेगा।

परन्तु उदाहरण प्रस्तुत करने से पूर्व एक शका का समाधान आवश्यक है। वह यह कि शब्दशक्ति के आधार पर दो अर्थों की प्रतीति श्लेष अलकार में भी होती है। तब फिर श्लेष और शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि की विषय-व्यवस्था का क्या नियम होगा? इसके उत्तर में निम्न कारिका है —

श्लेष अलंकार का स्थल

आक्षिप्त एवालङ्कार. शब्दशक्त्या प्रकाशते।
यस्मिन्ननुक्त' शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः॥

"जहाँ पर शब्द से अनुक्त (सक्षादसकेतित) होने पर भी शब्दशक्ति से ही आक्षिप्त—शब्दसामर्थ्य से व्यग्य—अलंकार की प्रतीति

होती है वहां शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि होती है। साराश यह है कि शब्द-शक्ति ने वस्तुद्वय की प्रतीति जब वाच्य रूप में हो तो श्लेष अलकार समझना चाहिये अन्यथा शब्दशक्ति से आक्षिप्त—ध्वनित—होकर जो अलकारान्तर की प्रतीति है वह शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि का स्थल है।

निम्न उदाहरणों में वस्तुद्वय प्रकरणाभिप्रेत है अत वाच्य है। और ये उदाहरण श्लेष के ही हैं —

श्लाध्याशेषतनुं सुदर्शनकर. सर्वाङ्गलीलाजित-
त्रैलोक्यां चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरि ।
बिभ्राणा मुखमिन्दुरूपमखिल चन्द्रात्मचक्षुर्दधत्
स्थाने या स्वतनोरपश्यदधिका सा रुक्मिणी वोऽवतात्॥

यह श्लोक ध्वनिकार का अपना ही है। इसमें कहा गया है कि विष्णु ने जिन रुक्मिणीदेवी को अपने शरीर से उत्कृष्ट पाया वे तुम्हारी रक्षा करें। यहां पर विष्णु-शरीर रूप उपमान की अपेक्षा रुक्मिणी-शरीर रूप उपमेय में आधिक्य दिखाया है, अत व्यतिरेक अलकार है। यह अलकार विष्णु के विशेषणों के द्वारा दो अर्थ करने पर सिद्ध होता है। अत कहा जा सकता है कि व्यतिरेक की छाया को पुष्ट करने वाला श्लेष है जो "स्वतनोरपश्यदधिकाम्" इस पद के कारण वाच्य ही माना जा सकता है। श्लोक का अर्थ निम्न प्रकार है —जिनका केवल हाथ ही सुन्दर है (दूसरा अर्थ—सुदर्शनचक्रधारी) जिन्होने केवल चरणार-विन्द के सौन्दर्य से (दूसरा अर्थ—पादविक्षेप से) तीनो लोको को आक्रान्त किया है और जो चन्द्र-रूप से केवल नेत्र को धारण करते हैं (अर्थात् जिनका समग्र मुख नही अपितु एक नेत्रमात्र ही चन्द्र रूप है) ऐसे विष्णु ने अखिल देहव्यापी सौन्दर्य वाली, सर्वाङ्ग सौन्दर्य से त्रैलोक्य को विजित करने वाली और चन्द्रमा के समान सम्पूर्ण मुख वाली जिन रुक्मिणी को उचित रूप से ही अपने शरीर में उत्कृष्ट देखा, वे तुम्हारी रक्षा करें।

एक हिन्दी उदाहरण भी देखो —

'रहिमन' पानी राखिये, बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरे, मोती, मानस, चून॥

यहाँ पर 'पानी' इस शब्द के तीन अर्थ क्रमश आभा, प्रतिष्ठा और जल अभिधा से प्रतीत होते हैं, क्योंकि मोती, मानस और चून ये तीन प्राकरणिक मौजूद हैं। यह भी श्लेष अलकार का उदाहरण है। ध्वनि का विषय नही। अस्तु।

अब शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि का उदाहरण लेते हैं—"**अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधान फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकाल**।" इसका प्राकरणिक वाच्यार्थ है—

शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि

"इसी समय वसन्तकाल का उपसहार करता हुआ, खिली हुई मल्लिकाओ (जुही) के, अट्टालिकाओ को धवलित करने वाले, हास से परिपूर्ण ग्रीष्म नामक महाकाल प्रकट हुआ।" इस अर्थ की प्रतीति के पश्चात् अनुस्वान (गूज) के समान वाच्यार्थ का उपमानभूत दूसरा अप्राकरणिक अर्थ भी प्रतीत होता है—"प्रलयकाल में कृतयुगादि का उपसहार करते हुए और खिली जुही के समान अट्टहास करते हुए महाकाल शिव के समान (ग्रीष्म नामक महाकाल प्रकट हुआ)।" अब देखना यह है कि यहाँ पर इस द्वितीय अर्थ की प्रतीति कैसे हुई ? 'महाकाल' के दो अर्थ होते ह—[१] एक रूढ अर्थ शिव या रुद्र और दूसरा [२] यौगिक अर्थ—दुरतिवहकाल अर्थात् ग्रीष्मकाल। यद्यपि यौगिक अर्थ की अपेक्षा रूढि अर्थ ही मुख्य माना जाता है तो भी प्रकरणानुसार अन्वित होने से 'ग्रीष्म समय' ही गृहीत होगा। अत यहाँ पर प्रकरण के हेतु से अभिधाशक्ति इसी एक अर्थ मे नियन्त्रित हो गई। जहाँ पर एकार्थ नियामक हेतु होता है, वहाँ पर अन्य अर्थों की प्रतीति न होने से श्लेष का अवकाश ही नही रहता। इस कारण द्वितीय अर्थ की प्रतीति श्लेष से तो नही हुई यह स्पष्ट हो

गया। परन्तु दूसरा अर्थ प्रतीत अवश्य होता है जिसके कारण यह गद्यखण्ड उत्तम काव्य माना गया है। इस द्वितीयार्थ की प्रतीति का कारण यह है कि श्राता के मन में 'महाकाल' शब्द का 'रुद्र' यह अर्थ तो संकेतित है ही। और 'महाकाल इस शब्द के ग्रीष्म और रुद्र इन दोनो अर्थों में जो सादृश्य है उसके सामर्थ्यवश ध्वनन व्यापार भी होता है। इस प्रकार उक्त द्वितीयार्थ संकेतग्रहमूलक और ध्वननव्यापारमूलक होने से शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि कहाया।

इसी प्रकार पन्त जी के 'गुञ्जन' से उद्धृत निम्न प्रार्थना में —

जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन!
बरसो लघु-लघु तृण तरु पर
हे चिर अव्यक्त चिर नूतन!

"हे चिर अव्यक्त, चिर नवीन ज्योतिस्वरूप जीवन! (जीवनप्रदाता प्रभो!) संसारक्षेत्र के लघुतम घास-पात पर भी जीवन (जलप्रदाता-मेघ) के समान अनुकम्पा करो।" 'जीवन' शब्द के दो अर्थ जीवन और जल होते हैं। प्रकरणानुसार प्रथम अर्थ में ही अभिधा शक्ति के नियन्त्रित हो जाने से जल रूप द्वितीयार्थ वाच्य नहीं है अपितु विशेषणों की समान रूप से अन्विति होने के कारण दोनो अर्थों की समानता के बोध से आक्षिप्त होकर उपमा अलंकार रूप द्वितीय अर्थ ध्वनित होता है। अतः शब्दशक्तिमूलक अलंकार ध्वनि का उदाहरण हुआ।

अब प्रकरणानुसार अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का उदाहरण देखना चाहिये—

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥

'देवर्षि-मण्डल के ऐसा (पार्वती-शिव-विवाह की चर्चा और शिव

के विवाहार्थ सहमत होने की सूचना) कहने पर पिता के पास बैठी हुई पार्वती नीचा मुख करके लीलाकमल की पखुडियाँ गिनने लगी।" उक्त श्लोक के इस वाच्यार्थ से लज्जा नामक सचारीभावरूप

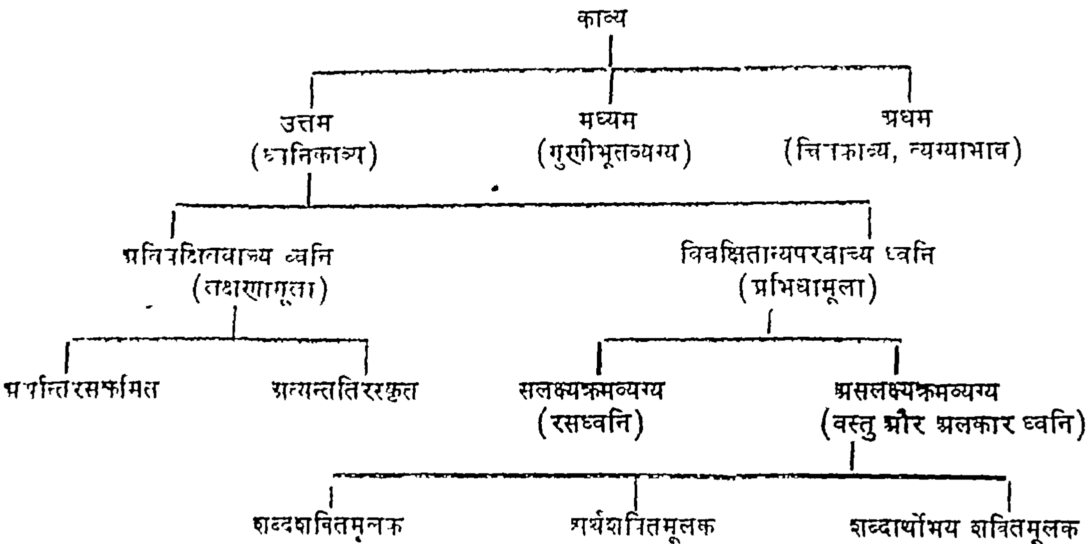
अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि

अर्थान्तर ध्वनित होता है। "लीलाकमलपत्राणि गणयामास" इन शब्दो के स्थान पर पर्यायवाची अन्य शब्दो के रख देने से भी उक्त भाव ध्वनित होगा। इसलिए यह अर्थशक्तिमूलकसलक्ष्यक्रमव्यग्य ध्वनि है।

> **रे कपि कौन तू? अक्ष को घातक, दूत बली रघुनन्दन जी को।**
> **को रघुनन्दन रे? त्रिसरा-खरदूषण-दूषण भूषण भू को॥**
> **सागर कैसे तर्यो? जस गोपद, काज कहा? सिय-चोरहिं देख्यो।**
> **कैसे बँधायो? जु सुन्दरी तेरी छुई दृग सोवत पातक लेख्यो॥**
> **—रामचन्द्रिका॥**

अशोक-वाटिका को उजाडने पर मेघनाद ने हनुमान् जी को पकडकर रावण के पास पेश किया। तत्कालीन रावण-हनुमान् के व्यङ्ग्यपूर्ण सम्वाद का यह अश है। हनुमान् जी के उत्तरो से व्यग्यार्थ ध्वनित होता है कि श्रीराम महाबलशाली प्रतिद्वन्दी हैं। उनका पराक्रम विश्वविदित है। पर तुम्हें अभी तक उनके बल का पता न लगा, अत तुम्हारा विनाश सन्निकट है' इत्यादि। और अनजाने में सोती हुई पर-स्त्री के दर्शन के पातक से बदी बना हूँ, इस अर्थ के वर्णन से—"जान बूझ कर परस्त्री का अपहरण करने वाले तुम जैसे व्यक्ति का सर्वनाश अवश्यम्भावी है"—यह बात स्वतः सिद्ध होती है। अत काव्यार्थापत्ति अलकाररूप ध्वनि है। ये सभी ध्वनियाँ किसी पदविशेष के आश्रित न होने से अर्थशक्तिमूलक ही हैं।

यहाँ तक काव्य तथा ध्वनिकाव्य (उत्तम) के भेदों का प्रदर्शन कर चुके। उसी को तालिका रूप में निम्न प्रकार भी दिखाया जा सकता है —



उपर्युक्त विवरण के अनुसार ध्वनि के १८ भेद होते हैं, जिनकी गणना निम्न प्रकार है —

[१] अविवक्षितवाच्य ध्वनि के

(i) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य . . . १ } २ भेद

(ii) अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य . . १

[२] विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के

(i) सलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि १

(ii) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि

१ शब्दशक्तिमूलक (वस्तु-ध्वनि + अलकार-ध्वनि) २ } १६ भेद

२ अर्थशक्तिमूलक (स्वत सम्भवी आदि के आधार पर) १२

३ शब्दार्थोभयशक्तिमूलक . . १

} अठारह भेद

जैसा कि पहिले बताया जा चुका है कि ध्वनि के अठारह भेद व्यंग्य के आधार पर किये गये हैं। पद, वाक्य आदि को दृष्टि में रखकर भी, व्यञ्जक के आधार पर और भेद करने पर यह संख्या ५१ हो जाती है।

ध्वनिकार के कर्तृत्व को देखते हुये हमें यह बात भी स्मरण रखनी चाहिये कि उन्होंने अपने से पूर्ववर्ती और परवर्ती अन्य मतो का समाहार ध्वनि-सिद्धान्त में बडी योग्यता से किया। उनके द्वारा प्रतिपादित ध्वनि की महाविषयता को समझने के लिए काव्य-पुरुष के उस समग्र चित्र को सामने रखना पडेगा जो उन्होंने कल्पित किया है। वह निम्न प्रकार अङ्कित किया जा सकता है —

ध्वनि में अन्य मतों का समाहार

ध्वनिकार से पूर्ववर्ती सिद्धान्त रस, गुण, रीति और अलंकार थे तथा परवर्ती वक्रोक्ति व औचित्य। इनमें रस के साथ ध्वनि का तो कोई विरोध हो ही नहीं सकता। भरत के रस-सूत्र के अनुसार विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। इनका आशय यह हुआ कि काव्य में विभाव, अनुभाव और संचारी का ही कथन किया जाता है, संयोग के परिपाकरूप रस का नहीं। रस उनके संयोग से स्वत: अभिव्यक्त हो जाता है, क्योंकि रस हृदयस्थित वासना की आनन्दमय परिणति ही तो है। अत: रस कभी भी वाच्य नहीं होता, वह सदा अभिव्यञ्जित ही होता है। ऐसी ही मान्यता ध्वनिकार की भी है—"**तृतीयस्तु रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते, न तु साक्षाच्छब्दव्यापारविषय इति**" (तीसरा रसादि रूप भेद वाच्य की सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर ही प्रकाशित होता है, साक्षात् शब्दव्यापार का विषय नहीं होता)। इसी कारण से ध्वनिकार रस को 'रस-ध्वनि' कहते हैं। अपनी अलौकिकता के कारण 'रस-ध्वनि' ही एकमात्र असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि है।

रस और ध्वनि

इसके बाद अब गुण-रीति, अलंकार और वक्रोक्ति रहे। इनका समाहार करने के लिये ध्वनिकार ने निम्न युक्ति-क्रम अपनाया। इसमें उन्होंने ध्वनि की महाविषयता की सम्यक्‌रीत्या स्थापना की।

ध्वनि और अलंकार आदि

ध्वनि (अङ्गी) के अभाव में गुण-रीति और अलंकार आत्मा से विहीन पंचतत्त्वों के समान निरर्थक हैं। वे ध्वनि की महत्ता को प्रकट करने के कारण ही सार्थक हो पाते हैं। गुण और अलंकारों की अंगता निम्न कारिका द्वारा प्रकट की गई है—

> **तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।**
> **अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥** उद्यो० २॥ का० ६॥

'जो अङ्गी (प्रधानभूत ध्वनि) के आश्रित रहते हैं वे गुण, और जो अङ्ग (शब्द और अर्थ) के आश्रय से रहते हैं वे कटकादि की तरह अलकार कहे जाते है।"

गुण—गुणो का सम्बन्ध चित्त की द्रुति दीप्ति आदि से है। अत माधुर्यादि गुण ध्वन्यर्थ (रस या आत्मा) के साथ अन्तरग रूप से सम्बन्धित होते हैं। ठीक वैसे ही जैसे शौर्यादि गुण आत्मा के गुण माने जाते हैं।

अलकार—अलकार भी काव्य के शरीरभूत शब्द अर्थ से सम्बन्धित है—**अलंकारो हि बाह्यालकारसाम्यादङ्गिनाश्चारुत्वहेतुरुच्यते** (उद्यो० २। कारिका १७वी की व्याख्या)। रीति की तरह अलकार नित्य धर्म नही, अस्थिर धर्म है। बिना शब्दालकार और अर्थालकार के भी काव्य के शब्द और अर्थ देखे जाते हैं।

रीति—(पदसघटना) इसका सम्बन्ध भी शब्द और अर्थ से है। इसका दर्जा भी अलकारो के समान है। मुख्यतया काव्य के शरीरभूत शब्द अर्थ की उपकारक होकर अन्ततोगत्वा आत्मा (ध्वनि) की ही उत्कर्षक कही जा सकती है।

इसके अतिरिक्त रस, गुण-रीति, अलकार और वक्रता आदि सभी ध्वनि के समान व्यग्य ही रहते हैं। अर्थात् ध्वनि रूप में ही उपस्थित रहने के कारण एक प्रकार से ध्वनि की व्याख्या के अन्तर्गत कहे जा सकते हैं। कही भी वाचक शब्द द्वारा माधुर्यादि गुणो, वैदर्भी आदि रीतियो, उपमादि अलकारो और वक्रता का कथन नही होता। इन सभी का क्षेत्र ध्वनि से न्यून ही है और ध्वनि की महाविषयता सिद्ध होती है।

ध्वनि-सिद्धान्त को जिन विरोधी आचार्यों के तर्कों का सामना करना पडा उनका थोडा सा अवलोकन करके इस प्रकरण को समाप्त

किया जायगा। संक्षेप में विरोधी आचार्यों की स्थिति निम्न प्रकार है —

[क] भट्टनायक—इन्होंने भावकत्व और भोजकत्व नामक दो नवीन शब्दशक्तियों की उद्‌भावना करते हुए ध्वनि-सिद्धान्त की आधारभूत व्यञ्जना शक्ति की अनावश्यकता का प्रतिपादन किया। इनके तर्कों का ध्वन्यालोक के दिग्गज व्याख्याता अभिनवगुप्त ने पूरी तरह निराकरण करते हुए व्यञ्जना शक्ति की स्थापना की।

[ख] कुन्तक—इन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का जीवित (प्राण) माना। और उनकी व्यापक व्याख्या करते हुये ध्वनि को उसके अन्तर्गत समाविष्ट करने का यत्न किया।

[ग] महिमभट्ट—इन्होंने भी ध्वनि की आधारभूत—व्यजना वृत्ति—पर ही कुठाराघात किया। इनके मत में शब्द की केवल एक शक्ति—अभिधा—ही हो सकती है। अभिधेयार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति अनुमान के द्वारा ही सम्भव है। यदि कोई नया नाम देना ही अभीष्ट है तो उसे 'काव्यानुमिति' कहा जा सकता है। परन्तु अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त यह नवीन व्यजना शक्ति कहाँ से आ टपकी ?

यह बताने की आवश्यकता नहीं कि महिमभट्ट का यह सिद्धान्त शंकुक के अनुमितिवाद जैसा ही है। अतः तर्क की कसौटी पर उक्त 'अनुमितिवाद' की तरह यह भी परास्त हो जाता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ध्वनि-विरोधी आचार्यों को

प्रधान आपत्ति 'व्यजना वृत्ति' पर ही है। अभिनवगुप्त तथा बाद को मम्मटाचार्य ने उक्त विद्वानो की शकाओ का निराकरण करते हुए व्यजना की स्थापना की है, उसका साराश निम्न प्रकार है —

१ प्रश्न उठता है कि यदि 'व्यजना वृत्ति' स्वीकार न की जावे तो प्रतीयमान अर्थ का बोध कैसे होगा ?

यदि यह कहो कि अभिधा शक्ति से । तो ठीक नही है। क्योकि ऐसा माननें पर दो अवस्थाएँ हो सकती है। या तो अभिधेयार्थ और प्रतीयमान अर्थ दोनो की प्रतीति साथ-साथ होगी अथवा क्रमिक-रूपेण। यदि साथ-साथ मानी जावे तो यह सर्वत्र सम्भव नही, जहाँ पर अभिधेयार्थ विधिरूप और प्रतीयमान निषेधरूप होता है वहाँ पर विधि-निषेध रूप विरोधी अर्थ एक ही व्यापार से एक साथ गृहीत नही हो सकते। क्रमिक रूप वाली दूसरी अवस्था में भी एक ही अभिधा शक्ति प्रथम अभिधेयार्थ की प्रतीति कराकर 'क्षीण-शक्ति' हो चुकती है, पुन प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति कराने मे समर्थ नही रहती।

अत यह स्पष्ट है कि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति कराने के लिए अभिधा शक्ति उपयुक्त नही। उसके लिए कोई अन्य शक्ति ही माननी पडेगी।

२ कुछ के मत में, 'प्रतीयमान' अर्थ की प्रतीति 'तात्पर्या' नामक शक्ति के द्वारा हो जायेगी। यह बात भी स्वीकार करने योग्य नही है। क्योकि तात्पर्या शक्ति के मानने वाले अभिहितान्वयवादी स्वय ही इसको केवल पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध के अन्वय के बोध के लिए ही स्वीकार करते हैं। उनके मत में प्रथम पदो का अन्वित अर्थ उपस्थित होता है। तदनन्तर तात्पर्या शक्ति से पदार्थो का ससर्ग रूप वाक्यार्थ उपस्थित होता है। अत अत्यन्त विलक्षण जो प्रतीयमान अर्थ है उसके बोध कराने की क्षमता उसमें नही ।

३ और यदि यह कहा जाय कि प्रतीयमान अर्थ 'लक्षणा वृत्ति' से बोधित हो सकेगा, तो यह भी असंगत है।

"गंगायां घोष" इस उदाहरण में गंगाप्रवाह में ग्राम की स्थिति सम्भव न होने से मुख्यार्थ बाधित है। तब लक्षणा द्वारा तत्सम्बन्धित "गङ्गातट पर ग्राम है" यह लक्ष्यार्थ बोधित होता है। इसका प्रयोजन है ग्राम की शीतलता एवं पवित्रता के आधिक्य का बोध कराना। यहाँ पर यह प्रयोजन रूप अर्थ ही व्यंजना वृत्ति द्वारा बोधित होता है। इस प्रकार लक्षणा की सिद्धि के लिए तीन कारण माने गये है—मुख्यार्थ बाध, मुख्यार्थ से सम्बन्ध और प्रयोजन। अब यदि यह कहा जाय कि प्रयोजन रूप अर्थ को लक्ष्यार्थ मान लिया जाय तो लक्षणा के उक्त तीन कारणों को भी दिखाना पडेगा। इस अवस्था में गङ्गातट रूप लक्ष्यार्थ को मुख्यार्थ मानना होगा, इसका बाध तथा प्रयोजन रूप अर्थ से सम्बन्ध दिखाना होगा और अन्य किसी प्रयोजन की भी खोज करनी पडेगी। स्पष्टतया स्वीकृत तथ्यों के विपरीत होने के कारण इन सबमें से एक की भी कल्पना नहीं की जा सकती। अतः यही स्वीकार करना पड़ता है कि प्रयोजन रूप अर्थ की प्रतीति के लिए व्यंजना वृत्ति को ही मान्यता देनी पडेगी, लक्षणा वृत्ति से उसकी पूर्ति सम्भव ही नहीं।

४ अन्तिम युक्ति यह है कि जब वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ सर्वथा अलग-अलग है तो उनकी प्रतीति के लिए वृत्तियाँ भी पृथक् ही स्वीकार करनी पड़ेंगी। वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का भेद निम्न तर्कों से सिद्ध है—

(i) अनेक उदाहरणों में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के स्वरूप में भेद देखा जाता है, जैसे एक विधि रूप है तो दूसरा निषेध रूप।

(ii) किसी वाक्य का वाच्यार्थ तो एक ही सम्भव होता है, परन्तु व्यंग्यार्थ अनेक हो सकते हैं। जैसे—अस्त गतोऽर्क. (नूनं

अस्त हो गया), इस वाक्य का वाच्यार्थ तो यह एक ही है परन्तु वक्ता आदि कि भिन्नता के कारण, अब सन्ध्या करनी चाहिए, **भ्रमणार्थ** चलो या काम बन्द कर दो आदि अनेक व्यंग्यार्थ होते हैं ।

(११) वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में काल-भेद भी होता है। प्रथम वाच्यार्थ तदनन्तर व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है ।

'ध्वनि' विषयक सर्वाङ्गपूर्ण साहित्यिक सिद्धान्त के इस प्रकार सामने आ जाने से वादो की प्रतिद्विन्द्वता कम हो गई और ध्वनि-सिद्धान्त रस-सिद्धान्त को साथ लेकर साहित्यिक क्षेत्र मे प्राय सर्व-मान्य सा हो गया। परवर्ती मम्मटाचार्य ने सभी सिद्धान्तो का समन्वय करते हुए ध्वनि का विस्तृत विवेचन कर उसकी पुष्टि की। इसी प्रकार विश्वनाथ ने भी ध्वनि की सर्वाङ्गपूर्णता को ही पुष्ट करते हुए रस को अधिक महत्त्व देने की चेष्टा की, जिसका विरोध पण्डितराज जगन्नाथ ने किया। साराश यही है कि ध्वनि-सिद्धान्त की मूर्धन्यता प्राय सभी परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार की । हिन्दी का अलकार-साहित्य इसी सर्वमान्य परम्परा को लेकर चला। इसीलिए हम देखते हैं कि हिन्दी अलकार-शास्त्र मे समन्वित रस और ध्वनि की मान्यता को आधार मान लिया है। आचार्य शुक्ल का रसवाद ऐसा ही है।

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय

गढ़-रचना बरुनी अलक चितवनि भौंह कमान।

आपु बंकई ही चढ़ै तरुनि तुरंगमि तानि॥—बिहारी॥

'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग सस्कृत-साहित्य में पहले से होता आया है, परन्तु अर्थ की दृष्टि से ऐकमत्य नही रहा। विभिन्न विद्वानो ने भिन्न-भिन्न अर्थो मे इनका प्रयोग किया है। साहित्य एव लक्षणग्रन्थो मे इनका जो प्रयोग हुआ है वह इस प्रसग में दर्शनीय है—

(१) बाण और अमरुक जैसे साहित्यिको ने वक्रोक्ति का प्रयोग 'परिहास-जल्पित' के अर्थ में किया है। जैसे—अभूमिरेपा भुजङ्ग-भङ्गिभाषितानाम्—कादम्बरी।

(२) दण्डी और भामह दोनो ने वक्रोक्ति को स्वभावोक्ति (साधारण-इतिवृत्तात्मक शैली) से विपरीत बताते हुए क्रमश 'श्लेप-पोपित' और 'सभी अलकारो का मूल' माना है। जैसे —

(क) श्लेष सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥—दण्डी॥

(ख) वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते—भामह॥

(३) वामन ने वक्रोक्ति को अर्थालकार मानते हुए एक नवीन अर्थ प्रदान किया, और कहा कि वक्रोक्ति सादृश्य पर आश्रित लक्षणा ही है—"सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति।" वामन॥

(४) रुद्रट् ने वक्रोक्ति को शब्दालकार माना और उसके दो भेद—काकुवक्रोक्ति तथा श्लेषवक्रोक्ति—किये। रुद्रट् के अनुकरण में ही मम्मट आदि प्राय सभी परवर्ती आचार्यों ने इसे इसी अर्थ में स्वीकार कर लिया। इस प्रकार वक्रोक्ति शब्दालकार के अर्थ में प्राय सुनिश्चित होकर बैठ रहा।

(५) परन्तु 'लोचन' में भामह को उद्धृत करते हुए अभिनवगुप्त ने वक्रोक्ति की निम्न व्याख्या की—"**शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम् ।**" अर्थात् शब्द और अर्थ की वक्रता इस बात में है कि वह लोक-प्रचलित रूप से भिन्न असाधारण रूप में सामने आये ।

यह व्याख्या कुन्तक के बडे काम की सिद्ध हुई । उन्होंने वक्रोक्ति के इसी विस्तृत आशय को लेकर अपने मन्तव्य के विशाल प्रासाद को खडा किया । और अन्य मतवादी आचार्यो की तरह एक दिशा के छोर की सीमा में पहुँचकर इसे काव्यात्मा उद्‌घोषित किया । उनके अनुसार काव्य का लक्षण इस प्रकार है —

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्य तद्विदाह्लादकारिणी ।। व० जी० ।।

"सामञ्जस्यपूर्वक मिले हुए शब्द और अर्थ काव्य कहाते हैं । (कब ?) जबकि वे काव्यज्ञो के 'आह्लादजनक' और 'वक्रतामय-कवि-व्यापार वाले' बन्ध में विन्यस्त हो ।"

यहाँ काव्यत्व की तीन शर्ते है (१) काव्यज्ञो के लिए आह्लादकत्व, (२) शब्द और अर्थ का सामञ्जस्य और (३) वक्रतामय कवि-व्यापार । इनमें तीसरा वक्रतामय कवि-व्यापार मुख्यतया दर्शनीय है, क्योकि शेष दो शर्तो के मूल में यही है । सहृदयहृदयाह्लादकत्व एव शब्दार्थसामञ्जस्य दोनो का यही कारण है । इसकी व्याख्या वे निम्न प्रकार करते हैं —

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोन्येषु सत्स्वपि ।
अर्थ. सहृदयाह्लादकारी स्वस्पन्दसुन्दरः ।।
उभावेतावलङ्कार्यो तयो पुनरलकृति. ।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ।। व०जी० ।।

"विवक्षितार्थ का वाचक शब्द, और अपने चमत्कार के कारण सहृदयो का आह्लादक अर्थ, दोनो ही अलकार्य हैं। इनकी अलकृति 'वक्रोक्ति' ही है। (वक्रोक्ति क्या ?) कवि-कौशल-जन्य-भङ्गिमा रूप उक्ति ही वक्रोक्ति कही जाती है।" सक्षेपत कवि की विदग्धता के कारण जो 'असाधारण कथन' या 'विचित्र उक्ति' है वही काव्य का एकमात्र अलकार है, अद्वितीय कारण है और वक्रतामय कवि-व्यापार कहाता है। वक्रोक्ति को और स्पष्ट करते हुए वृत्ति में लिखते हैं—वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधान व्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा, वैदग्ध्यं कवि कौशलं भङ्गी विच्छित्ति ॥ साधारण कथन से व्यतिरिक्त जो कथन का विचित्र प्रकार है वही वक्रोक्ति है—वक्रत्व प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकवैचित्र्यम् ॥

इसी वक्रोक्ति को आचार्य कुन्तक ने काव्य का प्राण माना है—
वक्रोक्ति काव्यजीवितम् ॥ व० जी० ॥

कुन्तक के विवेचन का तात्पर्य यह है कि काव्य की सर्वोपरि विशेषता यही है कि वह सहृदय जनो को अह्लादक होवे। इस आह्लादकत्व का कारण कवि-कथन की असाधारणता है। कवि की उक्ति असामान्य या विशिष्ट होती है, जो कथन के सामान्य प्रकार को अतिक्रान्त कर जाती है। उक्ति की इस असाधारणता या उक्तिचारुत्व का शास्त्रीय नाम 'वक्रोक्ति' है। वक्रोक्ति ही शब्द और अर्थ में सामञ्जस्य लाकर उक्त वाञ्छित विशिष्टता पैदा करती है। इस कारण यही काव्य में जीवन-सञ्चार का हेतु है, काव्य का जीवन है—वक्रोक्ति काव्यजीवितम्।

इसके अतिरिक्त कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का प्राण मानते हुए भी कवि-प्रतिभा और कल्पना पर बहुत जोर दिया है, क्योंकि उन्होंने वक्रोक्ति (या वक्र कवि-व्यापार) का अर्थ ही वैदग्ध्य-भङ्गि चारु उक्ति लिया है। यदि कवि में प्रतिभा नहीं होगी तो 'कथन की असामान्यता' विशृङ्खल होकर उन्मत्त-प्रलाप की तरह उपहास्य ठहराई जायेगी और

वह सहृदय के लिए आह्लादक नही हो सकती। शब्दार्थ-सामाञ्जस्य का यही रहस्य है। अत यह मानना पडता है कि प्रतिभा के बिना उक्ति मे वैचित्र्य सम्भव नही। कवि का वैदग्ध्य ही उक्ति-वैचित्र्य का कारण है। अर्थात् कवि-प्रतिभा ही उक्ति-चारुत्व की जननी है। इस प्रकार उनके मत से काव्य में 'कवि-प्रतिभा का व्यापार' या 'कवि-व्यापार' बहुत महत्त्व का है। परन्तु 'कवि-व्यापार' के ऊपर उन्होंने अधिक प्रकाश नहीं डाला। सम्भवत इसलिए कि काव्य-सृष्टि के लिए सर्वसम्मत कारण होने पर भी वह अनिर्वचनीय ही है। कवि-व्यापार की इस अनिर्वचनीय शक्ति का उल्लेख महाकवि पन्त ने भी 'पल्लव' की भूमिका में इस प्रकार किया है—" · किसी के कुशल करो का मायावी स्पर्श उनकी (शब्दो और अर्थो की) निर्जीवता में जीवन फूंक देता, वे अहल्या की तरह शाप-मुक्त हो जग उठते, हम उन्हे पाषाण-खण्डो का समुदाय न कह ताजमहल कहने लगते, वाक्य न कह काव्य कहने लगते हैं।"

एव कुन्तक की स्थिति यह हुई कि 'वक्रोक्ति' काव्य का प्राण है। परन्तु वक्रोक्ति भी 'कवि-प्रतिभा के व्यापार' पर निर्भर है। अत काव्य में 'कवि-व्यापार' की वक्रता का महत्त्व सर्वोपरि है। यह वर्ण-विन्यास से लेकर प्रबन्ध-लेखन तक में सम्भव है। इसलिए इसके उन्होंने छ भाग किये हैं—(१) वर्ण-विन्यास-वक्रत्व (२) पदपूर्वार्ध-वक्रत्व (३) प्रत्यय-वक्रत्व (४) वाक्य-वक्रत्व (४) प्रकरण और (६) प्रबन्ध-वक्रत्व। कवि में प्रतिभा है, वैदग्ध्य है तो वह काव्य के प्रत्येक अङ्गोपाङ्ग में असाधारणता ला सकता है और काव्य सहृदयाह्लादक बन जाता है।

अब हम कुन्तक की दृष्टि से काव्य का एकाध उदाहरण देख सकते है —

ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुः शशी।
दध्रे कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम्॥

"इसके बाद अरुणोदय के कारण निष्प्रभ शरीर वाले चन्द्रमा ने काम-परितप्त कामिनी के कपोलों की पाण्डुता को धारण किया।" यहाँ पर कथनीय बात केवल इतनी है कि "सूर्योदय होने पर चन्द्रमा की आभा फीकी पड़ गई।" साधारण लोक-व्यवहार में इसका कथन इसी प्रकार सीधे ढंग से किया जाता है। परन्तु प्रतिभा-सम्पन्न कवि इसी उक्ति को अपने वैदग्ध्य के बल पर कुछ दूसरे ढंग से कहेंगे। "सीधे ढंग' की अपेक्षा जो 'दूसरा ढंग' है वही वक्रोक्ति है। इस वक्रोक्ति की वजह से चन्द्रमा सचेतन की तरह व्यवहार करने लगता है और काम-परितप्त कामिनी की पाण्डुता को धारण कर लेता है। इसी से इस उक्ति में आह्लादकत्व आ जाता है। अतः यह काव्य है।

इसी काव्य के साथ वाल्मीकि रामायण की सुप्रसिद्ध राम की यह उक्ति—"न स संकुचितः पन्था येन वाली हतो गतः।"—भी रखी जाती है। 'जिस प्रकार बाली मारा गया उसी प्रकार तुम भी मारे जा सकते हो,' इस सामान्य अर्थ को "वह मार्ग बन्द नहीं हुआ है जिससे मरकर बाली गया है' इस असाधारण रूप में प्रकट करने से उक्ति में काव्यत्व आ गया है। महाकवि निराला की एक उक्ति को देखिये —

> देखो यह कपोतकण्ठ, बाहु वल्ली कर सरोज
> उन्नत उरोज पीन — क्षीण कटि—
> नितम्ब भार — चरण सुकुमार—गति मंद मंद
> छूट जाता धैर्य ऋषि-मुनियों का
> देवों—भोगियों की तो बात ही निराली है ॥

यहाँ पर वस्तु केवल इतनी है—'यह रूप-राशि अति कमनीय है।' कवि ने अपने निराले कथन-प्रकार में इसे यों बाँधा—"अंग प्रत्यंग की सुन्दरता देखो, ऋषि-मुनियों तक का धैर्य छूट जाता है, तब बेचारे भोगियों की गति तो निराली ही होगी।" कथन के इस निरालेपन को ही वक्रता कहते हैं। इसी से इसमें काव्यत्व है।

अलकारवादियो की दृष्टि में यहाँ काव्यार्थापत्ति होने मे काव्यत्व है, क्योकि ऋषि-मुनियो के धैर्य के छूट जाने से भोगियो का धैर्य छूट जाना स्वत सिद्ध है। और ध्वनिवादियो की दृष्टि से यह रस-ध्वनि का उदाहरण है क्योकि वाच्यार्थ की अपेक्षा शृङ्गार-रस-रूप-व्यग्यार्थ अधिक चमत्कार है। अस्तु।

कुन्तक की वक्रोक्ति के स्वरूप को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका प्रयोग उन्होने बहुत व्यापक अर्थ में किया है। वक्रोक्ति नामक अलकार भी है, पर यहाँ यह अति सकुचित अर्थ में—वक्रीकृता उक्ति—प्रयुक्त हुआ है। भामह और अभिनव की व्याख्या के अनुसार वक्रोक्ति को उन्होने विस्तृत अर्थ में ही ग्रहण किया है। भामह ने अपने मत का प्रतिपादन करते हुए बताया कि किसी भी बात को कहने के अनन्त प्रकार हो सकते हैं। ये प्रकार या साँचे ही 'अलकार' हैं, इनमें अपनी बात को ढालकर प्रस्तुत करने से उक्ति में काव्यत्व आ जाता है। अत अलकार ही काव्यात्मा रूप से स्वीकरणीय हैं। इसके आगे भामह यह भी स्वीकार करते हैं कि सभी अलकारो का मूल वक्रोक्ति है—**वक्राभिधेय-शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलकृति:**। अलकारवादी भामह और कुन्तक में केवल इतना ही भेद है कि काव्यात्मा की खोज करते हुए भामह 'अलकारो' पर ही अटक गये, जबकि कुन्तक अलकारो के भी मूल में रहने वाली 'वक्रोक्ति' तक जा पहुँचे। अत कुन्तक को अलकार-सम्प्रदाय का ही पोषक माना जाय तो कुछ हानि नहीं। इसी तथ्य को डाक्टर नगेन्द्र ने डाक्टर काणे के साथ सहमति प्रकट करते हुए लिखा है—"वक्रोक्ति-सम्प्रदाय अलकार-सम्प्रदाय की ही एक शाखा थी जिसके द्वारा कुन्तक ने अलकारवादी आचार्यों की वक्रता को ही नवीन काव्य-ज्ञान के प्रकाश में व्यापक रूप देने का कुशल प्रयत्न किया था।"

कुन्तक ने अपने काव्य की परिभाषा देते हुए **"बन्धे व्यवस्थितौ"** भी कहा है। इससे रीति-सम्प्रदाय को भी अपने समीप लाने की चेष्टा

की है। वैसे भी इन दोनों सम्प्रदायों की दृष्टि बाह्य रूप पर ही होने से निकट ही है। आगे चलकर कुन्तक ने स्वयं ही गुणों की व्याख्या कवि-व्यापार के प्रकरण में की है। कवि-व्यापार के उन्होंने तीन भाग किये—शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास। उनकी अभिव्यक्ति के माध्यम सुकुमार आदि तीन मार्ग हैं जो कि माधुर्यादि गुणों पर आश्रित हैं। इस प्रकार इन्होंने गुणों को भी अपने काव्य-विवेचन में स्थान दे दिया।

इसी प्रकार रस और ध्वनि भी वक्रोक्ति की सीमा में समेटे गये हैं। वक्रोक्ति की परिभाषा में अति-व्याप्ति दोष भले ही हो, अव्याप्ति नहीं। अति-व्याप्ति इसलिए कि "जहाँ वक्रोक्ति है वहाँ काव्यत्व भी है" यह मान्यता आज स्वीकार नहीं की जा सकती, इससे सूक्तियाँ भी काव्य-कोटि में गिनी जाने लगेंगी। इसके विपरीत "जहाँ ध्वनित्व या रसत्व होगा वहाँ वक्रत्व भी होगा" ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं। ध्वनि व्यञ्जना वृत्ति के आश्रित होने से इतिवृत्तात्मकता से भिन्न होकर कवि-प्रतिभा सापेक्ष्य है। अतः वहाँ पर असाधारणता होना स्वाभाविक है। और रस के स्थल में भी इसी प्रकार की असामान्यता स्वतः सिद्ध है, क्योंकि यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि रस या भाव दीप्ति के अवसर पर उक्ति में विशिष्टता आ ही जाती है। वाणी भावानुकूल होकर विलक्षणता को हठात् वरण कर लेती है। हाँ, रस के सम्बन्ध में कुन्तक वैज्ञानिक तथ्य से दूर हैं। वे वाणी की विलक्षणता के कारण भावों की विलक्षणता मानते हैं, जबकि सत्य यह है कि भावों की दीप्ति के कारण वाणी में अनुकूल आवेग पैदा हो जाता है।

इस प्रकार कुन्तक ध्वनि-विरोधियों की अभाववादी कोटि में न होकर ध्वनि को भाक्त (गौण) या लक्षणा-प्रसूत मानने वालों की श्रेणी में आते हैं। और 'रस' के सम्बन्ध में उनका मन्तव्य यही है कि वह वक्रोक्ति का एक तत्त्व-मात्र है, अनिवार्य नहीं। वाक्य-वक्रता के प्रसंग में उन्होंने रस और रसवदादि की समीक्षा की है।

अलकारवादियो की दृष्टि में यहाँ काव्यार्थापत्ति होने मे काव्यत्व है, क्योकि ऋषि-मुनियो के धैर्य के छूट जाने से भोगियो का धैर्य छूट जाना स्वत सिद्ध है। और ध्वनिवादियो की दृष्टि से यह रस-ध्वनि का उदाहरण है क्योकि वाच्यार्थ की अपेक्षा शृङ्गार-रस-रूप-व्यग्यार्थ अधिक चमत्कार है। अस्तु।

कुन्तक की वक्रोक्ति के स्वरूप को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका प्रयोग उन्होने बहुत व्यापक अर्थ में किया है। वक्रोक्ति नामक अलकार भी है, पर यहाँ यह अति सकुचित अर्थ में—वक्रीकृता उक्ति—प्रयुक्त हुआ है। भामह और अभिनव की व्याख्या के अनुसार वक्रोक्ति को उन्होने विस्तृत अर्थ में ही ग्रहण किया है। भामह ने अपने मत का प्रतिपादन करते हुए बताया कि किसी भी बात को कहने के अनन्त प्रकार हो सकते हैं। ये प्रकार या साँचे ही 'अलकार' हैं, इनमें अपनी बात को ढालकर प्रस्तुत करने से उक्ति में काव्यत्व आ जाता है। अत अलकार ही काव्यात्मा रूप से स्वीकरणीय हैं। इसके आगे भामह यह भी स्वीकार करते हैं कि सभी अलकारो का मूल वक्रोक्ति है—**वक्राभिधेय-शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलकृतिः**। अलकारवादी भामह और कुन्तक में केवल इतना ही भेद है कि काव्यात्मा की खोज करते हुए भामह 'अलकारो' पर ही अटक गये, जबकि कुन्तक अलकारो के भी मूल में रहने वाली 'वक्रोक्ति' तक जा पहुँचे। अत कुन्तक को अलकार-सम्प्रदाय का ही पोषक माना जाय तो कुछ हानि नही। इसी तथ्य को डाक्टर नगेन्द्र ने डाक्टर काणे के साथ सहमति प्रकट करते हुए लिखा है—"वक्रोक्ति-सम्प्रदाय अलकार-सम्प्रदाय की ही एक शाखा थी जिसके द्वारा कुन्तक ने अलकारवादी आचार्यों की वक्रता को ही नवीन काव्य-ज्ञान के प्रकाश में व्यापक रूप देने का कुशल प्रयत्न किया था।"

कुन्तक ने अपने काव्य की परिभाषा देते हुए **"बन्धे व्यवस्थितौ"** भी कहा है। इससे रीति-सम्प्रदाय को भी अपने समीप लाने की चेष्टा

की है। वैसे भी इन दोनों सम्प्रदायों की दृष्टि बाह्य रूप पर ही होने से निकट ही है। आगे चलकर कुन्तक ने स्वयं ही गुणों की व्याख्या कवि-व्यापार के प्रकरण में की है। कवि-व्यापार के उन्होंने तीन भाग किये—शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास। इनकी अभिव्यक्ति के माध्यम सुकुमार आदि तीन मार्ग हैं जो कि माधुर्यादि गुणों पर आश्रित हैं। इस प्रकार इन्होंने गुणों को भी अपने काव्य-विवेचन में स्थान दे दिया।

इसी प्रकार रस और ध्वनि भी वक्रोक्ति की सीमा में समेटे गये हैं। वक्रोक्ति की परिभाषा में अति-व्याप्ति दोष भले ही हो, अव्याप्ति नहीं। अति-व्याप्ति इसलिए कि "जहाँ वक्रोक्ति है वहाँ काव्यत्व भी है" यह मान्यता आज स्वीकार नहीं की जा सकती, इससे सूक्तियाँ भी काव्य-कोटि में गिनी जाने लगेंगी। इसके विपरीत "जहाँ ध्वनित्व या रसत्व होगा वहाँ वक्रत्व भी होगा" ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं। ध्वनि व्यञ्जना वृत्ति के आश्रित होने से इतिवृत्तात्मकता से भिन्न होकर कवि-प्रतिभा सापेक्ष्य है। अतः वहाँ पर असाधारणता होना स्वाभाविक है। और रस के क्षेत्र में भी इसी प्रकार की असामान्यता स्वतः सिद्ध है, क्योंकि यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि रस या भाव दीप्ति के अवसर पर उक्ति में विशिष्टता आ ही जाती है। वाणी भावानुकूल होकर विलक्षणता को हठात् वरण कर लेती है। हाँ, क्रम के सम्बन्ध में कुन्तक वैज्ञानिक तथ्य से दूर हैं। वे वाणी की विलक्षणता के कारण भावों की विलक्षणता मानते हैं, जबकि सत्य यह है कि भावों की दीप्ति के कारण वाणी में अनुकूल आवेग पैदा हो जाता है।

इस प्रकार कुन्तक ध्वनि-विरोधियों की अभाववादी कोटि में न होकर ध्वनि को भाक्त (गौण) या लक्षणा-प्रसूत मानने वालों की श्रेणी में आते हैं। और 'रस' के सम्बन्ध में उनका मन्तव्य यही है कि वह वक्रोक्ति का एक तत्त्व-मात्र है, अनिवार्य नहीं। वाक्य-वक्रता के प्रसंग में उन्होंने रस और रसवदादि की समीक्षा की है।

सार रूप में कुन्तक की मान्यताएँ निम्न है —

(i) जहाँ वक्रता होगी वहाँ काव्यत्व होगा। जहाँ वक्रता नही वहाँ काव्यत्व नही। अत 'स्वाभावोक्ति' मे काव्यत्व नही हो सकता।

(ii) काव्यत्व के लिए वक्रता (उक्तिवैचित्र्य) अनिवार्य है। अत काव्यत्वाधिवास उक्ति में है, व्यग्य वस्तु या भाव मे नही।

(iii) वक्रोक्तिवाद कवि-प्रतिभा के व्यापार अथवा वैदग्ध्य पर आश्रित है। अत यह बहुत व्यापक है।

यद्यपि कुन्तक ने अपने मत के मण्डन में अच्छी सूझ-बूझ और विवेचन में मौलिकता का परिचय दिया है तो भी उनका मत उन्हीं तक सीमित रहा, विस्तार न पा सका। इसका सबसे बडा कारण यह था कि वक्रता की परिभाषा मे अतिव्याप्ति का भारी दोष था, जो 'ध्वन्यालोक' जैसे प्रौढ ग्रन्थ की विवेचना के सामने मान्य न हो सका। उसने काव्य का सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन उपस्थित कर ऐसे मतो के लिए अवकाश ही न रहने दिया।

— — —